दंडक सूत्र विवेचन

-: हिन्दी-विवेचनकार :-

प.पू.आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

दंडक सूत्र विवेचन

हिन्दी-विवेचनकार

परम शासन प्रभावक, महाराष्ट्र देशोद्धारक

स्व. पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म. सा. के

शिष्यरत्न अध्यात्मयोगी, निःस्पृह शिरोमणि स्व. पूज्यपाद

पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य के चरम शिष्यरत्न

प्रभावक प्रवचनकार, जैन हिन्दी साहित्यदिवाकर, मरुधररत्न

पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

✣ प्रकाशन ✣

दिव्य सन्देश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे.व्यु. बिल्डींग,
विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी,
मुंबई-400 002. Cell 8484848451 (only whatsapp)

आवृत्ति : तृतीय • मूल्य : 90 /- रुपये • प्रतियां-1000
विमोचन स्थल : आराधना भवन, भिवंडी, • दि. 07-01-2023

आजीवन सदस्य योजना

आजीवन सदस्यता

शुल्क - 3000/- रु.

- **आप जैन धर्म के रहस्य - जैन इतिहास - जैन तत्त्वज्ञान - जैन आचार मार्ग, प्रेरणादायी कथाएँ आदि का अध्ययन करना चाहते हो तो आज ही आप दिव्य संदेश प्रकाशन मुम्बई की आजीवन सदस्यता प्राप्त कर लें । सदस्य बनते ही अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि स्व. पूज्यपाद पंन्यासप्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री एवं उन्हीं के चरम शिष्यरत्न प्रवचन प्रभावक परम पूज्य *आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म. सा.* द्वारा आलेखित उपलब्ध 10 पुस्तकें दी जाएगी और अर्हद् दिव्य संदेश मासिक तथा भविष्य में हिन्दी भाषा में प्रकाशित पुस्तकें घर बैठे प्राप्त होगी । आप आजीवन सदस्यता शुल्क मुंबई या बैंगलोर पते पर दिव्य संदेश प्रकाशन-मुंबई के नाम से चैक व ड्राफ्ट से भेजें ।**

प्राप्ति स्थान

1. **चंदन एजेंसी M. 9820303451**
   607, चीरा बाजार, ग्राउंड फ्लोर, मुंबई-400 002. **Tel. O. 2205 6821**
2. **चेतन हसमुखलालजी मेहता**
   भायंदर. **M. 9867058940**
3. **श्री आदिनाथ जैन श्वेतांबर संघ**
   श्री सुरेशगुरुजी M. 98441 04021
   नं.4, Old No. 38, फ्लोर,रंगराव रोड, शंकरपुरम्, बैंगलुर-560 004. (कर्नाटक)
   राजेश मो. 9241672979

आजीवन सदस्यता शुल्क

Rs. 3000/- भिजवाने का पता एवं पुस्तक-प्राप्ति-स्थान :

(1) दिव्य संदेश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन, 205, सोना चेंबर्स, 507-509, जे.ऐस.ऐस. रोड, चीरा बाजार, सोनापुर गली के सामने, मरीन लाईंस (E), मुंबई-2. **Tel. 022-4002 0120**

(2) दिव्य संदेश प्रचारक

प्रकाश बड़ोल्ला, 52, 3rd Cross, शंकरमाट रोड, शंकरपुरा, बैंगलोर-560 004. Tel. (O.) 4124 7478 M. 8971230600

(3) राहुल वैद, C/o. अरिहंत मेटल कं., 4403, लोटन जाट गली, पहाड़ी धीरज, सदर बाजार, दिल्ली-110 006. M. 9810353108

विवेचनकार की कलम से

तारक तीर्थंकर परमात्मा केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद जगत् के स्वरुप का यथार्थ निरुपण करते है । प्रभु की उस वाणी को गणधर भगवंत 'सूत्र' रुप में गुंथते है । समग्र द्वादशांगी प्रभु की वाणी स्वरुप ही है ।

वर्तमान में 12वें अंग 'दृष्टिवाद' का विच्छेद हो गया है । गणधर रचित वे आगम सूत्र भी अर्थ गंभीर है । उनके मर्म को समझने के लिए चौदहपूर्वी आदि महात्मा निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका आदि की रचना करते हैं ।

धीरे धीरे काल के प्रभाव से श्रुत के क्षयोपशम में भी मंदता आती गई, अत: उनके बाद हुए अनेक आचार्य भगवंतों ने 'प्रकरण' आदि ग्रंथों की रचना प्रारंभ की ।

यद्यपि जैन दर्शन का संपूर्ण तत्त्वज्ञान आगम ग्रंथों में समाविष्ट है, फिर भी बाल जीवों के हित के लिए भिन्न भिन्न विषयों को लेकर प्रकरण ग्रंथों की रचना की है ।

भूतकाल में जिनशासन को समर्पित अनेक महापुरुषों ने अनेक प्रकरण ग्रंथों की रचनाएँ की है । यद्यपि काल का प्रभाव उन प्रकरण ग्रंथों पर भी पडा है । कई महापुरुषों की कई रचनाएँ काल कवलित हो चूकी है । कई ग्रंथों के तो नाम भी उपलब्ध नहीं है ।

वाचकवर्य उमास्वातिजी म. ने 500 धर्मग्रंथों की रचना की थी, आज उनमें से 7 ग्रंथ ही उपलब्ध है ।

सूरि पुरंदर हरिभद्रसूरिजी म. ने 1444 धर्मग्रंथ रचे थे, आज उनमें भी 44 ग्रंथ भी विद्यमान नहीं है ।

कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्दाचार्यजी ने 3½ करोड़ श्लोक प्रमाण संस्कृत प्राकृत साहित्य का सर्जन किया था, आज उनमें से 5 लाख श्लोक प्रमाण भी साहित्य नहीं बचा है ।

धीरे धीरे काल के प्रभाव से संस्कृत-प्राकृत साहित्य का नवसर्जन भी घटना जा रहा है और उसके अभ्यास आदि में भी न्युनता आ रही है ।

वर्तमान समय में साधु समुदाय और मुमुक्षु परिवार में एक पाठ्यक्रम के रुप में छ आवश्यक संबंधी प्रतिक्रमण सूत्रों के अभ्यास के बाद चार प्रकरण, तीन भाष्य और छ कर्मग्रंथों का अभ्यास किया-कराया जाता है ।

संस्कृत-प्राकृत भाषा की अनभिज्ञता के कारण उन प्रकरण-ग्रंथों के मर्म को समझने के लिए महेसाणा आदि की ओर से गुजराती विवेचन अनेक बार प्रकाशित हुए है । इस प्रकार के प्रकरण ग्रंथों पर हिन्दी साहित्य की बहुत बड़ी कमी है । काफी समय से यह कमी मुझे अखरती थी । पूज्यों की शुभाशीष से इस संदर्भ में थोडा प्रयास चालू किया । इसी के फलस्वरुप जीव विचार, नवतत्त्व, तीन भाष्य और चार कर्मग्रंथ के हिन्दी विवेचन बाद अब दंडक व लघु संग्रहणी के विवेचन के लिए प्रयास चालू हुआ था । गजसार मुनि के द्वारा विरचित 'दंडक' प्रकरण के हिन्दी विवेचन का कार्य देव-गुरु की असीम कृपा से संपन्न हुआ ।

इस प्रकरण ग्रंथ में 24 दंडक के माध्यम से 24 द्वारों का सुंदर वर्णन किया गया है । इस प्रकरण ग्रंथ के स्वाध्याय से जैन दर्शन संबंधी अनेक पदार्थों का स्पष्ट बोध हो जाता है ।

नमस्कार महामंत्र के अजोड साधक, वात्सल्य वारिधि, बीसवीं सदी के महान् योगी परमोपकारी पूज्यपाद गुरुदेव पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्त श्री की निरंतर बरसती कृपा वर्षा ही मेरे जीवन का परम शंबल है । उन्ही की कृपा से प्रस्तुत विवेचन तैयार हो पाया है । छद्मस्थतावश कही भूले रह गई हो तो उसके लिए त्रिविध-त्रिविध मिच्छा मि दुक्कडम् !

निवेदक
अध्यात्मयोगी पूज्यपाद
पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी
गणिवर्य कृपाकांक्षी
आचार्य रत्नसेनसूरि

परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय
रत्नसेनसूरीश्वरजी म. सा. का संक्षिप्त परिचय

गृहस्थ नाम	: राजु (राजमल चोपड़ा)
माता का नाम	: चंपाबाई
पिता का नाम	: छगनराजजी गेनमलजी चोपड़ा
जन्मभूमि	: बाली (राज.)
जन्मतिथि	: भादों सुद-3, संवत् 2014 दि. 16-9-58
बचपन में धार्मिक अभ्यास	: पंच प्रतिक्रमण-नवस्मरण आदि
ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार	: 18 जून 1974
व्यावहारिक अभ्यास	: 1st year B.Com. (पार्श्वनाथ उम्मेद कॉलेज फालना-राज.)
दीक्षादाता	: पू.पं. श्री हर्षविजयजी गणिवर्य
गुरुदेव	: अध्यात्मयोगी **पू. पंन्यास श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य**
दीक्षादिवस	: माघ शुक्ला 13, संवत् 2033 दि. 2-2-1977
समुदाय	: शासन प्रभावक पू.आचार्यदेव **श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.**
दीक्षादिवस विशेषता	: भारत भर में लगभग 50 से अधिक दीक्षाएँ
108 मुमुक्षु वरघोड़ा	: 9 जनवरी 1977, मुंबई
दीक्षा स्थल	: न्याति नोहरा-बाली राज.
दीक्षा समय उम्र	: 18 वर्ष
बड़ी दीक्षा	: फाल्गुन शुक्ला 12, संवत् 2033
बड़ी दीक्षा स्थल	: घाणेराव (राज.)
प्रथम चातुर्मास	: संवत् 2033 पाटण पू.पं. श्री हर्षविजयजी के सान्निध्य में

◆ **अभ्यास :** प्रकरण, भाष्य, 6 कर्मग्रंथ, कम्मपयडी, पंचसंग्रह, न्याय, काव्य, कोश, संस्कृत-प्राकृत व्याकरण, संस्कृत-प्राकृत साहित्य वाचन, ज्योतिष, आगम वाचन आदि.

◆ **भाषाबोध :** हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, राजस्थानी, संस्कृत, प्राकृत, मराठी आदि

◆ **प्रथम प्रवचन :** फागुन सुदी 14, संवत् 2034 पाटण (गुजरात)

◆ **चातुर्मासिक प्रवचन प्रारंभ :** बाली संवत् 2038

◆ **चातुर्मासिक प्रवचन :** बाली (दो बार), पाली (दो बार), रतलाम, अहमदाबाद (ज्ञानमंदिर), पाटण, सुरेन्द्रनगर, रानीगाँव, पिंडवाड़ा, उदयपुर, जामनगर, अहमदाबाद (गिरधरनगर), थाणा, कल्याण, दादर (मुंबई), सायन (मुंबई), धूलिया, कराड़, चिंचवड़, भायंदर, पूना, येरवड़ा, दीपक ज्योति टॉवर, श्रीपाल नगर, कर्जत, भिवंडी (दो बार), कल्याण (दो बार), रोहा, भायंदर (तीन बार), पालीताणा (दो बार), नासिक, बेंगलोर, मैसूर, कोयम्बतूर, बीजापुर ।

◆ **विहार क्षेत्र :** राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, कर्णाटक, तामिलनाडु आदि

◆ **पाद विहार :** आजतक लगभग 45,000 K.M.

◆ **छ'री पालक निश्रादाता :** उदयपुर से केशरियाजी, गिरधरनगर से शंखेश्वर, धूलिया से नेर, कराड़ से कुंभोज, सोलापुर से बार्शी, भिवंडी से महावीर धाम, कर्जत से मानस मंदिर, हस्तगिरि से शत्रुंजय-गिरनार, सेवाडी से राणकपूर (पंचतीर्थी), शत्रुंजय बारह गाऊ, बेंगलोर से सुशीलधाम, कोयम्बत्तूर से अव्वलपुंदरी ।

◆ **प्रथम पुस्तक आलेखन : वात्सल्य के महासागर** संवत् 2038

◆ **अद्यावधि प्रकाशित पुस्तकें :** (232) लगभग

◆ **संस्कृत साहित्य संपादन-सह संपादन :** सिद्ध हैमशब्दानुशासनम्-बृहद्वृत्ति लघु न्यास सह, पांडवचरित्र आदि

◆ **शिष्य-प्रशिष्य : स्व. मुनि श्री उदयरत्नविजयजी,**
स्व.मुनि श्री केवलरत्नविजयजी, स्व.मुनि श्री कीर्तिरत्नविजयजी,
मुनि श्री प्रशांतरत्नविजयजी, मुनि श्री शालिभद्रविजयजी,
मुनि श्री स्थूलभद्रविजयजी, स्व. मुनि श्री यशोभद्रविजयजी,
बाल मुनि श्री विमलपुण्यविजयजी म. ।

◆ **उपधान निश्रा दाता :** कुर्ला, धुले, येरवडा, आदीश्वर धाम (दो बार), कर्जत, विक्रोली, मोहना, पालीताणा (दो बार), सेसली, कीर्तिस्तंभ (घाणेराव) नासिक, सुशीलधाम (बेंगलोर), मैसूर, महावीर धाम ।

◆ **गणि पदवी :** वैशाख वदी-6, संवत् 2055, दि.7-5-1999 चिंचवड गाँव, पूना ।

◆ **पंन्यास पदवी :** कार्तिक वदी-5, संवत् 2061, दि.2-12-2004 श्रीपालनगर, मुंबई ।

◆ **आचार्य पदवी :** पौष वदी-1, संवत् 2067, दि.20-1-2011 थाणा ।

दंड़क मूलसूत्र

नमिउं चउवीस जिणे, तस्सुत्त-वियार-लेस-देसणओ ।
दंड़ग-पएहिं ते-च्चिय, थोसामि सुणेह भो भव्वा ।।1।।

नेरइया असुराइ, पुढवाइ-बेइन्दियादओ चेव ।
गब्भय तिरिय मणुस्सा, वंतर जोइसिय वेमाणी ।।2।।

संखित्तयरी उ इमा, सरीर-मोगाहणा य संघयणा ।
सन्ना संठाण कसाय, लेसिन्दिय दु समुग्घाया ।।3।।

दिट्ठी दंसण नाणे, जोगु-वओगो-ववाय चवण ठिइ ।
पज्जत्ति किमाहारे, सन्नि-गइ-आगइ वेए ।।4।।

चउ गब्भ-तिरिय वाउसु, मणुआणं पंच सेस तिसरीरा ।
थावरचउगे दुहओ, अंगुल-असंख-भाग-तणु ।।5।।

सव्वेसिं पि जहन्ना, साहाविय अंगुलस्स असंखंसो ।
उक्कोस पणसयधणु, नेरइया सत्त-हत्थ सुरा ।।6।।

गब्भतिरि सहस जोयण, वणस्सइ अहिय जोयणसहस्सं ।
नर तेइंदि तिगाऊ, बेइंदिय जोयणे बार ।।7।।

जोयणमेगं चउरिंदि, देह-मुच्चत्तणं सुए भणिअं ।
वेउव्विय-देहं पुण, अंगुल-संखंसमारंभे ।।8।।

देव नर अहियलक्खं, तिरियाणं नव य जोयण सयाइं ।
दुगुणं तु नारयाणं, भणियं वेउव्विय-सरीरं ।।9।।

अंतमुहुत्तं निरए, मुहुत्त चत्तारि तिरिय-मणुएसु ।
देवेसु अद्धमासो, उक्कोस विउव्वणा कालो ।।10।।

थावर-सुर-नेरइया, असंघयणा य विगल-छेवट्ठा ।
संघयण-छग्गं गब्भय-नर-तिरिएसु वि मुणेयव्वं ।।11।।

सव्वेसिं चउ दह वा, सन्ना सव्वे सुरा य चउरंसा ।
नर तिरि-छसंठाणा, हुंड़ा विगलिंदि नेरइया ।।12।।
नाणाविह धय-सुई, बुब्बुय वण वाउ तेउ अपकाया ।
पुढवी मसूर-चंदा-कारा-संठाणओ भणिया ।।13।।
सव्वे वि चउकसाया, लेस-छग्गं गब्भतिरिय मणुएसु ।
नारय-तेऊ-वाऊ, विगला वेमाणि य तिलेसा ।।14।।
जोइसिय तेउलेसा, सेसा सव्वेवि हुंति चउलेसा ।
इंदियदारं सुगमं, मणुआणं सत्त समुग्घाया ।।15।।
वेयण कसाय मरणे, वेउव्विय तेयए य आहारे ।
केवलि य समुग्घाया, सत्त इमे हुंति सन्नीणं ।।16।।
एगिंदियाण केवल, तेउ-आहारग विणा उ चत्तारि ।
ते वेउव्विय वज्जा, विगला-सन्नीण ते चेव ।।17।।
पण गब्भ-तिरि-सुरेसु नारय-वाउसु चउर तिय सेसे ।
विगल दु दिट्ठि थावर, मिच्छत्ति सेस तिय दिट्ठी ।।18।।
थावर-बि-तिसु अचक्खु, चउरिंदिसु तद्दुगं सुए भणिअं ।
मणुआ चउ दंसणिणो, सेसेसु तिगं तिगं भणियं ।।19।।
अन्नाण नाण तिय तिय, सुर तिरि निरए थिरे अनाणदुगं ।
नाणन्नाण दु विगले, मणुए पण नाण ति अनाणा ।।20।।
सच्चे अर मीस असच्चमोस, मणवय विउव्वि आहारे ।
उरलं मीसा कम्मण, इय जोगा देसिया समए ।।21।।
इक्कारस सुरनिरए, तिरिएसु तेर पन्नर मणुएसु ।
विगले चउ पण वाए, जोगतिगं थावरे होइ ।।22।।
ति अनाण नाण पण चउ, दंसण बार जिअलक्खणुवओगा ।
इय बारस उवओगा, भणिया तेलुक्कदंसीहिं ।।23।।

उवओगा मणुएसु, बारस नव निरय तिरिय देवेसु ।
विगलदुगे पण छक्कं, चउरिंदिसु थावरे तियगं ।।24।।
संखमसंखा समए, गब्भय-तिरि विगल नारय सुरा य ।
मणुआ नियमा संखा, वण-णंता थावर असंखा ।।25।।
असन्नि नर असंखा, जह उववाए तहेव चवणे वि ।
बावीस सग ति दसवास, सहस्स उक्किट्ठ पुढवाइ ।।26।।
तिदिणग्गि ति-पल्लाउ-नरतिरि सुर-निरय सागर तित्तीसा ।
वंतर पल्लं जोइस-वरिसलक्खाहियं पलियं ।।27।।
असुराण अहिय अयरं, देसूण दुपल्लयं नव निकाये ।
बारस वासुण पणदिण-छम्मासुक्किट्ठ विगलाऊ ।।28।।
पुढवाइ दस पयाणं, अंतमुहुत्तं जहन्न आउठिई ।
दस-सहस-वरिसठिइआ, भवणाहिव निरयवंतरिया ।।29।।
वेमाणिय जोइसिया, पल्लतयट्ठंस आउआ हुंति ।
सुर-नर-तिरिनिरएसु छ, पज्जत्ती थावरे चउगं ।।30।।
विगले पंच पज्जत्ती, छ द्विसि आहार होइ सव्वेसिं ।
पणगाइ पये भयणा, अह सन्नि-तियं भणिस्सामि ।।31।।
चउविह सुरतिरिएसु, निरएसु य दीहकालिगी सन्ना ।
विगले हेउवएसा, सन्नारहिया थिरा सव्वे ।।32।।
मणुआण दीहकालिय, दिट्ठीवाओवएसिया केवि ।
पज्ज-पण-तिरि-मणुअच्चिय, चउविह-देवेसु गच्छंति ।।33।।
संखाउ पज्ज पणिंदि-तिरिय-नरेसु तहेव पज्जत्ते ।
भूदग पत्तेयवणे, एएसु च्चिय सुरागमणं ।।34।।
पज्जत्त संख गब्भय, तिरियनरा, निरयसत्तगे जंति ।
निरयउवट्टा एएसु, उववज्जंति न सेसेसु ।।35।।

पुढवी-आउ-वणस्सइ-मज्झे नारय-विवज्जिया जीवा ।
सव्वे उववज्जंति निय निय कम्माणुमाणेणं ।।36।।

पुढवाइ दस पएसु, पुढवी आउ वणस्सइ जंति ।
पुढवाइ दसपएहि य तेउ वाऊसु उववाओ ।।37।।

तेऊवाऊ गमणं, पुढवी पमुहंमि होइ पयनवगे ।
पुढवाइ-ठाण-दसगा, विगलाइ तियं तहिं जंति ।।38।।

गमणा-गमणं गब्भय, तिरियाणं सयल-जीव-ठाणेसु ।
सव्वत्थ जंति मणुआ, तेऊवाऊहिं नो जंति ।।39।।

वेय-तिय तिरि-नरेसु इत्थी पुरिसो य चउविह सुरेसु ।
थिर विगल नारएसु, नपुंसवेओ हवइ एगो ।।40।।

पज्ज मणु बायरग्गी, वेमाणिय-भवण-निरय-वंतरिया ।
जोइस चउ पण-तिरिया, बेइंदिय तेइंदिय भू आऊ ।।41।।

वाऊ वणस्सइ च्चिय, अहिया अहिया कमेणिमे हुंति ।
सव्वेवि इमे भावा, जिणा ! मए णंतसो पत्ता ।।42।।

संपइ तुम्ह भत्तस्स दंड़गपय भमण भग्गहिययस्स ।
दंड़तिय विरय सुलहं, लहु मम दिंतु मुक्खपयं ।।43।।

सिरि जिणहंस मुणीसर, रज्जे सिरिधवलचंद सीसेण ।
गजसारेण लिहिया, एसा विन्नत्ति अप्पहिया ।।44।।

अनुक्रमणिका

क्र. सं.	विषय	पृ. सं.
1.	मंगलाचरण	1
2.	24 दंड़क पद	2
3.	24 द्वार	3
4.	पहला द्वार-5 शरीर	6
5.	दूसरा अवगाहना द्वार	10
6.	उत्तर वैक्रिय की उत्कृष्ट अवगाहना	14
7.	उत्तर वैक्रिय का काल	15
8.	तीसरा संघयण द्वार	16
9.	चौथा संज्ञा द्वार, पाँचवाँ संस्थान द्वार	18
10.	छठा कषाय द्वार, सातवाँ लेश्या द्वार	24
11.	लेश्या द्वार चालू-आठवाँ इन्द्रिय द्वार, नौवाँ समुद्घात द्वार	29
12.	समुद्घात द्वार चालू एवं 10वाँ दृष्टिद्वार	40
13.	11 वाँ दर्शन द्वार	42
14.	12 वाँ ज्ञान द्वार-13 वाँ अज्ञान द्वार	44
15.	14 वाँ योग द्वार	48
16.	15 वाँ उपयोग द्वार	52
17.	16-17-18 वाँ उपपात-च्यवन-स्थिति द्वार	54
18.	जघन्य आयुष्य स्थिति	60
19.	स्थिति द्वार चालू, 19वाँ पर्याप्ति द्वार	60
20.	पर्याप्ति द्वार चालू तथा 20वाँ किमाहार द्वार	63

क्र. सं.	विषय	पृ. सं.
21.	21, 22, 23वाँ संज्ञी, गति, आगति द्वार	65
22.	गति-आगति द्वार चालू	69
23.	नारकों की गति-आगति	70
24.	पृथ्वी-अप् और वनस्पति में आगति	71
25.	पृथ्वी-अप्-वनस्पति की गति तेउ-वायु की आगति	71
26.	तेउकाय-वायुकाय की गति और विकलेन्द्रियों की आगति	72
27.	गर्भज तिर्यंच व मनुष्य की गति-आगति	72
28.	24 वाँ वेद द्वार	73
29.	24 दंड़कों में अल्पबहुत्व	74
30.	मोक्ष के लिए प्रार्थना	75

दंडक प्रकरण

1. मंगलाचरण

नमिउं चउवीस जिणे, तस्सुत्त वियारलेस देसणओ ।
दंड़गपएहिं तेच्चिय, थोसामि सुणेह भो भव्वा ।।1।।

शब्दार्थ

नमिउं=नमस्कार करके	**दंड़ग=**दंड़क के द्वार
चउवीस=चौबीस	**पएहिं=**पदों द्वारा
जिणे=जिनेश्वर को	**ते=**वे
तस्सुत्त=उनके सिद्धांत में से	**च्चिय=**ही
वियार=विचार स्वरूप	**थोसामि=**स्तवना करूंगा
लेस=अल्प	**सुणेह=**सुनो
देसणओ=कहने से	**भो भव्वा=**हे भव्य प्राणियो ! ।।1।।

गाथार्थ :- चौबीस जिनेश्वर भगवंतों को प्रणाम करके दंड़क के उनके द्वारा निर्दिष्ट सिद्धांतसूत्रों के लेश भाग को बतलाते हुए मैं उनकी स्तुति करूंगा, अतः हे भव्य प्राणियो ! तुम उसे सुनो ।

विवेचन :- दंडक ग्रंथ का प्रारंभ करते हुए श्री गजसार महामुनि मंगल, विषय, संबंध, प्रयोजन और अधिकारी का निर्देश करते है ।

1) मंगल : किसी भी शुभ कार्य का प्रारंभ करना हो तो सर्व प्रथम मंगल जरूरी है । मंगल अर्थात् जिसके प्रभाव से आनेवाले विघ्न दूर हो जायें और प्रारंभ किये गये कार्य की निर्विघ्नतया समाप्ति हो ।

प्रस्तुत ग्रंथ की रचना भी एक शुभ कार्य है, अतः उसकी निर्विघ्न समाप्ति के लिए ग्रंथकारने **'नमिउं चउवीसजिणे'**, चौबीस जिनेश्वर परमात्मा को नमस्कार करके' इस पद के द्वारा मंगलाचरण किया है ।

`जिनेश्वर परमात्मा को नमस्कार' यह सर्वश्रेष्ठ उत्कृष्ट भाव **मंगल** है ।

2) विषय : प्रस्तुत ग्रंथ में दंड़क पदों के द्वारा जिनेश्वर परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट 24 विषयों पर विचार किया गया है ।

3) संबंध : प्रस्तुत प्रकरण में ग्रंथकार महर्षि अपनी मतिकल्पना से पदार्थों का वर्णन नहीं कर रहे हैं, बल्कि जो जिनेश्वर भगवंतों ने कहा है, उसी की बात कर रहे हैं, अतः इस प्रकरण का आगम ग्रंथों के साथ घनिष्ठ संबंध है ।

4) प्रयोजन : श्रोताओं को जिनेश्वर परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट पदार्थों का

सम्यग्बोध हो, यह ग्रंथकार का अनंतर प्रयोजन है और इस ग्रंथ का अभ्यास कर जिनेश्वर परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट चारित्र धर्म का पालन कर वह आत्मा शाश्वत सुख की भोक्ता बने, यह ग्रंथरचना का परंपर प्रयोजन है ।

5) अधिकारी : जिनेश्वर परमात्मा द्वारा बताया हुआ मोक्षमार्ग भव्य जीवों को ही पसंद पड़ता है, अभव्य जीवों को नहीं, अतः अभव्यजीवों को मोक्ष मार्ग का उपदेश देने का कोई अर्थ ही नहीं है, इसी कारण इस ग्रंथ के प्रारंभ में ही **'सुणेह भो भव्वा'** कहकर भव्य जीवों को संबोधित किया गया है ।

भव्य आत्मा अर्थात् जिसमें मोक्षगमन की योग्यता है । धर्म व मोक्ष मार्ग का उपदेश भव्य आत्मा को ही लाभ करता है, अभव्य को नहीं, अतः अभव्य को उपदेश देना निरर्थक ही है ।

दंड़क शब्द के दो अर्थ होते हैं । बार बार उपयोग में आनेवाले आगम के सूत्रपाठों को भी दंड़क कहा जाता है ।

दंड़क का दूसरा अर्थ है- जिस प्रवृत्ति द्वारा आत्मा कर्म आदि से दंडित होता है और संसार में विषम स्थिति का अनुभव करता है, उन पदों को भी दंड़क कहा जाता है ।

2. 24 दंड़क पद

नेरइया असुराइ, पुढवाइ बेइन्दियादओ चेव ।
गब्भय तिरिय मणुस्सा, वंतर जोइसिय वेमाणी ।।2।।

शब्दार्थ

नेरइया=नारक	**तिरिय=**तिर्यंच	
असुराइ=असुरकुमार आदि	**मणुस्सा=**मनुष्य (गर्भज)	
पुढवाइ=पृथ्वीकाय आदि	**वंतर=**व्यंतर	
बेइन्दियादओ=द्वीन्द्रिय आदि	**जोइसिय=**ज्योतिषी	
गब्भय=गर्भज	**वेमाणी=**वैमानिक	।।2।।

गाथार्थ :- नारक, असुरकुमार आदि, पृथ्वीकाय आदि, द्वीन्द्रिय आदि गर्भज तिर्यंच और मनुष्य, व्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक ।

विवेचन :- 1. रत्नप्रभा 2. शर्कराप्रभा 3. वालुकाप्रभा 4. पंकप्रभा

5. धूमप्रभा 6. तमः प्रभा 7. तमस्तमःप्रभा आदि 7 नरक-पृथ्वियों में रहनेवाले 7. नारकों का 1 ही दंड़क गिना गया है ।

1. असुरकुमार 2. नागकुमार 3. विद्युत्कुमार 4. सुवर्णकुमार 5. अग्निकुमार 6. द्वीपकुमार 7. उदधिकुमार 8. दिशिकुमार 9. वायुकुमार और 10. स्तनितकुमार-इन 10 प्रकार के भवनपति देवताओं के 10 दंड़क हैं ।

1. पृथ्वीकाय 2. अप्काय 3. तेउकाय 4. वायुकाय और 5. वनस्पति-काय इन पाँच स्थावर एकेन्द्रिय जीवों के 5 दंड़क हैं ।

द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय इन तीन विकलेन्द्रियों के 3 दंड़क हैं ।

गर्भज तिर्यंच और गर्भज मनुष्य का 1-1 दंड़क है । 16 व्यंतरदेवों का 1, 5 ज्योतिषी देवों का 1 तथा 26 वैमानिक देवों का 1 दंड़क है; इस प्रकार सभी मिलाकर 24 दंड़क होते हैं ।

जैन दर्शन में पदार्थों का वर्णन अनेक नयों से होता है । एक जीव तत्त्व के एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह, चौदह और आगे चलकर 563 भेद भी बतलाए गए हैं ।

इस गाथा में संसार में रहे सभी जीवों को 24 भागों में विभक्त किया गया है ।

3. 24 द्वार

संखित्तयरी उ इमा, सरीरमोगाहणा य संघयणा ।
सन्ना संठाण कसाय, लेसिन्दिय दु समुग्घाया ।।3।।

दिट्ठी दंसण नाणे, जोगुवओगोववाय चवण ठिइ ।
पज्जत्ति किमाहारे, सन्नि गइ आगइ वेए ।।4।।

शब्दार्थ

संखित्तयरी=अतिसंक्षेप से
उ=तथा
इमा=ये
सरीर=शरीर
ओगाहणा=अवगाहना
संघयणा=संघयण

सन्ना=संज्ञा	**उवओग=**उपयोग
संठाण=संस्थान	**उववाय=**उपपात
कसाय=कषाय	**चवण=**च्यवन
लेस=लेश्या	**ठिई=**स्थिति-आयुष्य
इंदिय=इन्द्रियाँ	**पज्जत्ति=**पर्याप्ति
समुग्घाया=समुद्घात	**किमाहारे=**दिग् आहार
दिट्ठी=दृष्टि	**सन्नि=**संज्ञा
दंसण=दर्शन	**गई=**गति
नाणे=ज्ञान	**आगई=**आगति
जोग=योग	**वेए=**वेद ।।3-4।।

गाथार्थ :- अति संक्षेप में संग्रह इस प्रकार है 1. शरीर, 2. अवगाहना, 3. संघयण, 4. संज्ञा, 5. संस्थान, 6. कषाय, 7. लेश्या, 8. इन्द्रिय, 9. समुद्घात, 10. दृष्टि, 11. दर्शन, 12. ज्ञान, 13. अज्ञान, 14. योग, 15. उपयोग, 16. उपपात, 17. च्यवन, 18. स्थिति, 19. पर्याप्ति, 20. किमाहार, 21. संज्ञी, 22. गति, 23. आगति और 24. वेद ।

विवेचन :- इस गाथा में 24 द्वारों का नामनिर्देश किया गया है ।

1. **शरीर-**इसके 5 भेद हैं. 1. औदारिक 2. वैक्रिय 3. आहारक 4. तैजस 5. कार्मण

2. **अवगाहना-**शरीर की ऊँचाई-औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर की जघन्य व उत्कृष्ट ऊँचाई ।

3. **संघयण-**इसके छह भेद हैं-1. वज्रऋषभ नाराच 2. ऋषभनाराच 3. नाराच 4. अर्धनाराच 5. कीलिका और 6. सेवार्त ।

4. **संज्ञा-**इसके चार छह, दस और सोलह भेद हैं-1. आहार 2. भय 3. मैथुन 4. परिग्रह 5. ओघ 6. लोक 7. क्रोध 8. मान 9. माया 10. लोभ 11. मोह 12. धर्म 13. सुख 14. दुःख 15. जुगुप्सा 16. शोक.

5. **संस्थान-**इसके छह भेद हैं- 1. समचतुरस्त्र 2. न्यग्रोध-परिमंड़ल 3 सादि 4 वामन 5 कुब्ज 6 हुंड़क ।

6. **कषाय-**इसके चार भेद हैं 1. क्रोध 2. मान 3. माया और 4. लोभ

7. **लेश्या-** इसके छह भेद हैं 1. कृष्ण 2. नील 3. कापोत 4. तेज 5. पद्म और 6. शुक्ल ।

8. **इन्द्रियाँ-**इन्द्रियाँ पांच है 1. स्पर्शनेन्द्रिय 2. रसनेन्द्रिय 3. घ्राणेन्द्रिय 4. चक्षुरिन्द्रिय 5. श्रोत्रेन्द्रिय ।

9. **समुद्घात-**इसके सात भेद हैं- 1. वेदना 2. कषाय 3. मरण 4. वैक्रिय 5. तैजस 6. आहारक 7. केवली ।

10. **दृष्टि-**इसके तीन भेद हैं- 1. मिथ्या 2. मिश्र और 3. सम्यग्दृष्टि ।

11. **दर्शन-**इसके चार भेद हैं- 1. चक्षु 2. अचक्षु 3. अवधि 4. केवल ।

12. **ज्ञान-**इसके पांच भेद हैं- 1. मति 2. श्रुत 3. अवधि 4. मनःपर्यव 5. केवल ।

13. **अज्ञान-**इसके तीन भेद हैं- 1. मति अज्ञान 2. श्रुत अज्ञान 3. विभंगज्ञान ।

14. **योग-**इसके पंद्रह भेद हैं- 1. सत्य मनयोग 2. असत्यमनयोग 3. सत्यासत्य मन योग 4. असत्य अमृषा मन योग. 5. सत्यवचन योग 6. असत्य वचन योग 7. सत्यासत्य वचनयोग 8. असत्य अमृषा वचन योग 9. औदारिक काययोग 10. वैक्रिय काययोग 11. आहारक काययोग 12. औदारिक मिश्र काययोग 13. वैक्रिय मिश्र काययोग 14. आहारक मिश्र काययोग 15. तैजस कार्मण काय योग ।

15. **उपयोग-**इसके बारह भेद हैं- 1. मतिज्ञान 2. श्रुतज्ञान 3. अवधिज्ञान 4. मनःपर्यवज्ञान 5. केवलज्ञान 6. मतिअज्ञान 7. श्रुतअज्ञान 8. विभंगज्ञान 9. चक्षुदर्शन 10. अचक्षुदर्शन 11. अवधिदर्शन 12. केवलदर्शन ।

16. **उपपात-**एक समय में कितने ? कितने समय नहीं ।

17. **च्यवन-**एक समय में कितना ? कितने समय नहीं ?

18. **स्थिति-**जघन्य और उत्कृष्ट ।

19. **पर्याप्ति-**इसके छह भेद हैं- 1. आहार 2. शरीर 3. इन्द्रिय 4. श्वासोच्छवास 5. भाषा 6. मन ।

20. **किमाहार-**इसके चार भेद हैं- 1. तीन दिशा से 2. चार दिशा से 3. पाँचदिशाओं से 4. छह दिशाओं से ।

21. **संज्ञा-**इसके तीन भेद हैं- 1. हेतुवादोपदेशिकी 2 दीर्घकालिकी 3. दृष्टिवादोपदेशिकी ।

22. **गति-**जीव किस दंड़क में जा सकता है ।

23. **आगति-**जीव किस दंड़क में से आ सकता है ।

24. **वेद-**इसके तीन भेद हैं- 1. पुरुष 2. स्त्री 3. नपुंसक ।

4. पहला द्वार-5 शरीर

चउ गब्भतिरिय वाउसु, मणुआणं पंच सेस ति सरीरा ।
थावर चउगे दुहओ, अंगुल असंख भाग तणु ।।5।।

शब्दार्थ

चउ=चार	**ति सरीरा=**तीन शरीर
गब्भतिरिय=गर्भज तिर्यंच	**थावर चउगे=**चार स्थावर
वाउसु=वायुकायके विषय में	**दुहओ=**दोनों प्रकार से
मणुआणं=मनुष्यों को	**अंगुल असंख भाग=**अंगुल का असं-
पंच=पाँच	ख्यातवाँ भाग
सेस=शेष (21 दंड़कों में)	**तणु=**शरीर ।।5।।

गाथार्थ :- गर्भज तिर्यंच और वायुकाय के जीवों के चार शरीर, मनुष्य के पाँच शरीर और शेष (21 दंड़कों में) तीन शरीर होते है ।

चारों स्थावरों में जघन्य व उत्कृष्ट से अंगुल का असंख्यतवाँ भाग प्रमाण शरीर होता है ।

विवेचन :– कर्म के बंधन से सर्वथा मुक्त बनी आत्माओं को किसी भी प्रकार का शरीर नहीं होता है, अर्थात् वे मुक्तात्माएँ अशरीरी होती हैं, परंतु संसारी जीवों को तो शरीर धारण करना ही पड़ता है । विग्रह गति में रही हुई आत्मा के तैजस और कार्मण ये दो शरीर होते हैं । विग्रह गति को छोड़ आत्मा किसी भी गति में कोई भी जन्म धारण करती है, उस आत्मा के तीन शरीर हो जाते है ।

'शीर्यते इति शरीरम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो नष्ट होता है, वह शरीर है । ये पाँचों शरीर नष्ट होने के स्वभाववाले होते हैं ।

1. औदारिक शरीर : औदारिक वर्गणा के पुद्गलों से बने हुए शरीर को औदारिक शरीर कहते हैं । इस शरीर की कुछ विशेषताएँ है–

1) उदार : अर्थात् विशाल । देव व नरक के जीवों को छोड़कर सभी जीवों के यह शरीर होता है । तीर्थंकर, गणधर, केवली, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव, नारद आदि सभी महापुरुषों को यह शरीर होने से यह शरीर विशाल कहलाता है । कर्म से सर्वथा मुक्ति और आत्मा को अनंत लब्धियों की प्राप्ति भी इसी शरीर के माध्यम से होती है ।

2) उत्तम : जगत् में सर्वश्रेष्ठ रूप तीर्थंकर परमात्मा का होता है, उनका शरीर भी औदारिक वर्गणा के पुद्गलों से ही बना होता है ।

3) स्थूल : पुद्गल की आठ प्रकार की वर्गणाओं में औदारिक वर्गणा के पुद्गल एकदम स्थूल होते हैं । ये पुद्गल संख्या में कम होते हैं, परंतु उनका परिणाम स्थूल होता है । औदारिक की अपेक्षा वैक्रिय, आहारक आदि के परमाणु सूक्ष्म होते हैं ।

4) सबसे ऊँचा : चार गतियों में सबसे बड़ा शरीर औदारिक ही होता है । स्वयंभूरमण समुद्र में एक हजार योजन के मत्स्य पाए जाते हैं । वनस्पति की भी ऊँचाई एक हजार योजन से कुछ अधिक होती है ।

2. वैक्रिय शरीर : वैक्रिय वर्गणा के पुद्गलों से बने हुए शरीर को वैक्रिय शरीर कहते है ।

विक्रिया अर्थात् जिस शरीर में भिन्न-भिन्न प्रकार की क्रियाएँ हो सकती हैं अर्थात् जिस शरीर में छोटे से बड़ा, बड़े से छोटा, एक से अनेक, भारी-हल्का, दृश्य-अदृश्य आदि अनेक प्रकार की क्रियाएँ हो सकती हैं । यह शरीर दो प्रकार का होता है–

1. भव प्रत्ययिक : भव के कारण होनेवाले शरीर को भवप्रत्ययिक कहते हैं । देव व नरक के जीवों को यह वैक्रिय शरीर भवप्रत्ययिक होता है ।

2. लब्धि प्रत्ययिक : लब्धिधारी मनुष्य, पंचेन्द्रिय तिर्यंच और बादर पर्याप्त वायुकाय जीवों को यह शरीर लब्धिप्रत्ययिक होता है अर्थात् लब्धि के कारण इस शरीर की प्राप्ति होने से लब्धि प्रत्ययिक कहलाता है ।

औदारिक की अपेक्षा वैक्रिय वर्गणा के पुद्गल अधिक सूक्ष्म होते हैं । इस शरीर में हड्डी, मांस, चर्बी, खून आदि किसी भी प्रकार की अशुद्ध धातुएँ नहीं होती हैं ।

मनुष्य वैक्रिय लब्धि के बल से 1 लाख योजन से भी कुछ अधिक ऊँचाई का यह शरीर बना सकता है ।

देवताओं को जन्म से ही प्राप्त यह शरीर अत्यंत ही सौंदर्यवाला होता है । उनके शरीर में किसी भी प्रकार की बीमारी नहीं होती है । मानव शरीर की तरह देव के शरीर में वृद्धावस्था आदि नहीं होती है ।

3. आहारक शरीर : आहारक वर्गणा के पुद्गलों से बने शरीर को आहारक शरीर कहते हैं ।

आमर्ष औषधि आदि लब्धिवाले चौदह पूर्वधर और आहारक लब्धि-वाले महात्मा ही आहारक शरीर का निर्माण कर सकते हैं ।

तीर्थंकर परमात्मा के पास से अपने प्रश्नों के समाधान के लिए अथवा तीर्थंकर परमात्मा के समवसरण आदि ऋद्धि को देखने के लिए चौदह पूर्वधर महर्षि इस आहारक शरीर का निर्माण करते हैं ।

यह शरीर एक हाथ प्रमाण ही होता है । वैक्रिय वर्गणा की अपेक्षा आहारक वर्गणा के पुद्गल अति सूक्ष्म होते हैं । इस शरीर का अस्तित्व अन्तर्मुहूर्त तक ही रहता है ।

भरतक्षेत्र में रहे आहारक लब्धिधारी महात्मा अपने द्वारा बनाए आहारक शरीर को महाविदेह क्षेत्र में भेजें और वहाँ सीमंधर स्वामी आदि की ऋद्धि देखकर यह शरीर वापस लौट आए...इस घटना में सिर्फ अन्तर्मुहूर्त जितना ही समय लगता है । उसके बाद यह शरीर विलीन हो जाता है । यह शरीर बनाते समय मूल शरीर और आहारक शरीर के बीच आत्मप्रदेशों की लंबी श्रेणी होती है ।

यह शरीर वैक्रिय वर्गणा से भी अधिक तेजस्वी और सूक्ष्म होता है ।

यह शरीर एक जीव की अपेक्षा से संपूर्ण भवचक्र में चार ही बार प्राप्त होता है ।

4. तैजस शरीर : तैजस वर्गणा के पुद्गलों से इस शरीर का निर्माण होता है । शरीर में जो गर्मी होती है, वह इसी शरीर के कारण होती है । विविध तप द्वारा तेजोलेश्या सिद्ध होती है, जिससे सामनेवाले को भस्मीभूत किया जा सकता है । यह शरीर आत्मा के साथ अनादिकाल से रहा हुआ है । इसके परमाणु आहारक शरीर से भी अधिक सूक्ष्म होते हैं ।

5. कार्मण शरीर : मिथ्यात्व आदि हेतुओं द्वारा आत्मा अपने चारों ओर रहे कार्मण वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करती है, ग्रहण किए कार्मण वर्गणा के उन पुद्गलों को ही कार्मण शरीर कहते हैं ।

24 दंड़कों में 5 शरीर

1 दंड़क **पंचेन्द्रिय मनुष्य**-पाँच शरीर,

1 दंड़क-**गर्भज तिर्यंच**-चार शरीर (आहारक शरीर को छोड़कर)

1 दंड़क-**वायुकाय**-चार शरीर (आहारक शरीर को छोड़कर)

14 दंड़क-**देव के 13 + नरक का 1,** इनके तीन शरीर होते हैं । (औदारिक और आहारक शरीर को छोड़कर)

7 दंड़क **शेष 4 स्थावर + 3 विकलेन्द्रिय**-इनके तीन शरीर होते हैं- (वैक्रिय और आहारक को छोड़कर)

भवधारणीय शरीर :- देवताओं और नरक के जीवों का शरीर वैक्रिय वर्गणा के पुद्गलों से बना होने से वैक्रिय शरीर होता है, जबकि मनुष्य और तिर्यंचों का शरीर औदारिक वर्गणा के पुद्गलों से बना होने से औदारिक शरीर कहलाता है ।

किसी भी गति में रहे जीवों को तीन शरीर तो अवश्य होते ही हैं ।

आत्मा एक भव को छोड़कर दूसरे भव में जाती है, तब बीच में आत्मा के साथ तैजस और कार्मण शरीर होते हैं । मृत्यु के बाद भी तैजस और कार्मण शरीर आत्मा के साथ चलते हैं ।

जिस मनुष्य के पास वैक्रिय लब्धि होती है, वह मनुष्य अपनी लब्धि का प्रयोग कर वैक्रिय शरीर बना सकता है और जिस मनुष्य के पास आहारक लब्धि होती है, वह अपनी लब्धि के प्रयोग द्वारा आहारक शरीर भी बना सकता है ।

किसी मनुष्य के पास वैक्रिय और आहारक दोनों लब्धि होने पर भी उन दोनों लब्धियों का प्रयोग एक साथ नहीं कर सकता है, अतः जब वह अपना वैक्रिय शरीर बनाएगा तो आहारक शरीर नहीं बना पाएगा और जब आहारक शरीर बनाएगा तब वैक्रिय शरीर नहीं बना पाएगा, इस प्रकार मनुष्य में पाँचों शरीर की संभावना होने पर भी एक समय में तो चार ही शरीर हो सकेंगे, पाँच नहीं !

पंचेन्द्रिय तिर्यंच व वायुकाय में वैक्रिय लब्धि हो सकती है, अतः जब वे लब्धि का प्रयोग करते हैं, तब उन्हें भी चार शरीर हो सकते है ।

5. दूसरा अवगाहना द्वार

सव्वेसिं पि जहन्ना, साहाविय अंगुलस्स असंखंसो ।
उक्कोस पणसयधणु, नेरइया सत्तहत्थ सुरा ।।6।।

गब्भतिरि सहस जोयण, वणस्सइ अहिय जोयणसहस्सं ।
नर तेइंदि ति गाऊ, बेइंदिय जोयणे बार ।।7।।

जोयणमेगं चउरिंदि, देहमुच्चत्तणं सुए भणिअं ।
वेउव्वियदेहं पुण, अंगुलसंखं समारंभे ।।8।।

शब्दार्थ

सव्वेसिं पि=सभी दंड़को की
जहन्ना=जघन्य अवगाहना
साहाविय=स्वाभाविक
अंगुलस्स=अंगुल का
असंखंसो=असंख्यातवा भाग
उक्कोस=उत्कृष्ट
पणसय=500
धणू=धनुष
नेरइया=नारक
सत्त हत्थ=सात हाथ
सुरा=देवता ।।6।।

गब्भतिरि=गर्भजतिर्यंच
सहसजोयण=1000 योजन
वणस्सइ=वनस्पति
अहिय=अधिक
जोयण सहस्सं=हजार योजन
नर=मनुष्य
तेइंदि=त्रीन्द्रिय
ति गाऊ=तीन गाउ
बेइंदिय=दो इन्द्रियवाले
जोयणेबार=बारह योजन ।।7।।

जोयणमेगं=एक योजन
चउरिंदि=चार इन्द्रियवाले
देहमुच्चत्तण=देह की ऊँचाई
सुए=सूत्र में
भणिअं=कहा है ।
वेउव्विय=वैक्रिय
देहं=देह
पुण=तथा
अंगुलसंखं=अंगुल का संख्यातवाँ भाग
समारंभे=प्रारंभ में ।।8।।

गाथार्थ :- सभी दंड़कों में स्वाभाविक शरीर की जघन्य अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग जितनी है, नारकों की उत्कृष्ट अवगाहना 500 धनुष्य और देवताओं की 7 हाथ है ।।6।।

पंचेन्द्रिय गर्भज तिर्यंच की उत्कृष्ट अवगाहना एक हजार योजन है । वनस्पति की एक हजार योजन से कुछ अधिक है । गर्भज मनुष्य और त्रीन्द्रिय की तीन गाउ और द्वीन्द्रिय की बारह योजन है ।।7।।

सिद्धांत में चतुरिन्द्रिय जीवों के शरीर की ऊँचाई 1 योजन कही है । वैक्रिय शरीर प्रारंभ में अंगुल के असंख्यातवें भाग जितना होता है ।।8।।

विवेचन :– अवगाहना अर्थात् शरीर की लंबाई या ऊँचाई । यह अवगाहना जघन्य और उत्कृष्ट दो प्रकार से होती है ! ये दोनों प्रकार की अवगाहनाएँ मूल शरीर और उत्तर शरीर दोनों से होती हैं ।

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय और वायुकाय के जीवों का शरीर जघन्य और उत्कृष्ट से अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है, परंतु जघन्य शरीर से उत्कृष्ट शरीर असंख्य गुणा बड़ा होता है ।

पृथ्वीकाय आदि चार का शरीर अत्यंत ही सूक्ष्म होता है, जो चर्म चक्षु से देखना शक्य नहीं है । हमें जो पृथ्वीकाय आदि का शरीर दिखाई देता है, वह असंख्य पृथ्वीकाय जीवों के पिंड़ रूप है । एक कंकड़ पत्थर आदि में पृथ्वीकाय के असंख्य जीव होते है ।

पृथ्वीकाय आदि की अवगाहना में भी परस्पर तरतमता अर्थात् भिन्नता रही हुई है ।

सबसे सूक्ष्म शरीर-सूक्ष्म वनस्पतिकाय का
उससे असंख्यगुणा बड़ा-सूक्ष्म वायुकाय का
उससे असंख्यगुणा बड़ा-सूक्ष्म अग्निकाय का
उससे असंख्यगुणा बड़ा-सूक्ष्म अप्काय का
उससे असंख्यगुणा बड़ा-सूक्ष्म पृथ्वीकाय का
उससे असंख्यगुणा बड़ा-बादर वायुकाय का
उससे असंख्यागुणा बड़ा-बादर अग्निकाय का
उससे असंख्यगुणा बड़ा-बादर अप्काय का
उससे असंख्यगुणा बड़ा-बादर पृथ्वीकाय का

उससे असंख्यगुणा बड़ा-बादर साधारण वनस्पतिकाय (निगोद) का
उससे असंख्यगुणा बड़ा-प्रत्येक वनस्पतिकाय का

24 दंड़कों में से पृथ्वीकाय आदि 4 स्थावरों की जघन्य और उत्कृष्ट अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है । उसी प्रकार अन्य सभी जीव भी जब किसी भव में पैदा होते हैं, तब प्रारंभ में उनकी अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग जितनी ही होती है ।

कोई भी जीव बाद में भले ही हजार योजन का हो जाय, परंतु सर्व प्रथम उत्पत्ति के समय में तो अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण ही होता है । उसके बाद धीरे धीरे वह शरीर बढता जाता है ।

नारकों की उत्कृष्ट अवगाहना 500 धनुष प्रमाण है । परंतु सातों नरकों में जघन्य व उत्कृष्ट अवगाहना अलग अलग है ।

नारकों का भवधारणीय जघन्य-उत्कृष्ट शरीर

नरक	जघन्य शरीर	उत्कृष्ट शरीर
1 रत्नप्रभा	3 धनुष्य 15 अंगुल	7 ¾ धनुष्य 6 अंगुल
2 शर्कराप्रभा	7 ¾ धनुष्य 6 अंगुल	15 ½ धनुष्य 12 अंगुल
3 वालुका प्रभा	15 ½ धनुष्य 12 अंगुल	31 ¼ धनुष्य
4 पंकप्रभा	31 ¼ धनुष्य	62 ½ धनुष्य
5 धूमप्रभा	62 ½ धनुष्य	125 धनुष्य
6 तमः प्रभा	125 धनुष्य	250 धनुष्य
7 महातमः प्रभा	250 धनुष्य	500 धनुष्य

पंचेन्द्रिय गर्भज तिर्यंचों की उत्कृष्ट अवगाहना 1000 योजन कही है, ढाई द्वीप के बाहर अंतिम स्वयंभूरमण समुद्र में 1000 योजन के महामत्स्य पाए जाते हैं ।

वनस्पति के शरीर की ऊँचाई 1000 योजन से कुछ अधिक कही है । यद्यपि सभी समुद्र प्रमाण अंगुल से 1000 योजन गहरे हैं, परंतु यहाँ वनस्पति का माप उत्सेध अंगुल से लेने का है ।

जिस स्थान (गोतीर्थ आदि) में उत्सेध अंगुल के प्रमाणवाली 1000 योजन की गहराई होती हो, वहाँ कमल व वनस्पति की 1000 योजन से कुछ

अधिक अवगाहना समझनी चाहिए । अन्य स्थानों में जो रत्नों के कमल आदि होते है, वे वास्तविक वनस्पति नहीं हैं, उनका आकार वनस्पति का है, परंतु वे पृथ्वीकायिक जीव होते हैं ।

मनुष्य के शरीर की ऊंचाई 3 कोस कही है । देवकुरु और उत्तरकुरु के मनुष्यों की ऊँचाई 3 कोस और उनका आयुष्य भी 3 पल्योपम होता है । अन्य क्षेत्रों में मनुष्य की ऊँचाई व आयुष्य कम होता है ।

त्रीन्द्रिय जीवों के शरीर की ऊँचाई 3 कोस और द्वीन्द्रिय की 12 योजन कही है । यह ढाई द्वीप के बाहर उत्पन्न होनेवाले कानखजूरे व शंख आदि की अपेक्षा से समझना चाहिए ।

चतुरिन्द्रिय जीवों के शरीर की ऊँचाई एक योजन कही है, वह भी ढाई द्वीप के बाहर द्वीप-समुद्रों में रहे भ्रमर आदि की समझनी चाहिए ।

24 दंड़कों में जन्मदेह की अवगाहना

दंड़क		जघन्य अवगाहना	उत्कृष्ट अवगाहना
4	पृथ्वीकाय आदि	अंगुल का असंख्यातवाँ भाग	अंगुल का असंख्यातवा भाग
1	नारक	अंगुल का असंख्यतवाँ भाग	500 धनुष्य
13	देव	अंगुल का असंख्यातवाँ भाग	7 हाथ
1	गर्भज तिर्यंच	अंगुल का असंख्यातवाँ भाग	1000 योजन
1	वनस्पति	अंगुल का असंख्यातवाँ भाग	1000 योजन से कुछ अधिक
2	मनुष्य, त्रीन्द्रिय	अंगुल का असंख्यातवाँ भाग	तीन कोस
1	द्वीन्द्रिय	अंगुल का असंख्यातवाँ भाग	12 योजन
1	चतुरिन्द्रिय	अंगुल का असंख्यातवाँ भाग	1 योजन

उत्तर वैक्रिय शरीर की अवगाहना

जिन जिन दंड़क पदों में वैक्रिय लब्धि कही है, उस शरीर के निर्माण का प्रारंभ करते हैं, तब वह प्रारंभ में अंगुल के संख्यातवें भाग जितना होता है, फिर क्रमशः बढ़ता है ।

अपवाद-वायुकाय की उत्कृष्ट अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग

जितनी ही है, अतः वे जीव जब उत्तर वैक्रिय का प्रारंभ करते हैं, तब उनके शरीर की अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग जितनी ही होती है ।

6. उत्तर वैक्रिय की उत्कृष्ट अवगाहना

देव नर अहियलक्खं, तिरियाणं नव य जोयण सयाइं ।
दुगुणं तु नारयाणं, भणियं वेउव्वियसरीरं ।।9।।

शब्दार्थ

देव=देव	**जोयण सयाइं=**100 योजन
नर=मनुष्य	**दुगुणं=**दुगुणा
अहियलक्खं=लाख योजन से अधिक	**नारयाणं=**नारको को
तिरियाणं=तिर्यंचों की	**भणियं=**कहा गया है
नव=नौ	**वेउव्वियसरीरं=**वैक्रिय शरीर ।।9।।

गाथार्थ :- देवों का उत्तर वैक्रिय शरीर 1 लाख योजन और मनुष्यों का 1 लाख योजन से अधिक है । तिर्यंचों का 900 योजन है । नारकों का वैक्रिय शरीर उनके मूल शरीर से दुगुना है ।।9।।

विवेचन :- देवताओं के पास तो जन्म से ही सहजतया वैक्रिय लब्धि होती है, वे अपनी लब्धि के बल से उत्कृष्ट से 1 लाख योजन का शरीर बना सकते हैं । हर मनुष्य के पास वैक्रिय लब्धि नहीं होती है, परंतु आराधना-साधना के बल पर जिन्हें वैक्रिय लब्धि प्राप्त हुई हो, वे वैक्रिय लब्धिधारी मनुष्य 1 लाख से 4 अंगुल अधिक होते हैं ।

देवता व मनुष्य का वैक्रिय शरीर, मस्तक के भाग से तो एक समान होता है, परंतु देवता का पैर जमीन से चार अंगुल ऊपर होता है ।

मुनिसुव्रत स्वामी प्रभु के शासन में हुए विष्णुकुमार मुनि ने नमुची मंत्री को शिक्षा करने के लिए अपनी वैक्रियलब्धि के द्वारा 1 लाख योजन का उत्तर वैक्रिय शरीर बनाया था ।

नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर के देवता कल्पातीत होने से अरिहंत प्रभु के जन्म आदि कल्याणक प्रसंग पर आते नहीं हैं, अतः उन्हें उत्तर वैक्रिय शरीर बनाने का कोई प्रयोजन नहीं होता है ।

24 दंड़कों में उत्तर वैक्रिय

दंड़क	जघन्य	उत्कृष्ट
1 वायुकाय	अंगुल का असंख्यातवाँ भाग	अंगुल का असंख्यातवाँ भाग
13 देव	अंगुल का असंख्यातवाँ भाग	1 लाख योजन
1 गर्भज मनुष्य	अंगुल का असंख्यातवाँ भाग	1 लाख योजन से कुछ अधिक
1 गर्भज तिर्यंच	अंगुल का असंख्यातवाँ भाग	900 योजन
1 गर्भज नारक	अंगुल का असंख्यातवाँ भाग	जन्म देह से दुगुना/1000 योजन

शेष 7 दंड़कों में वैक्रिय शरीर या वैक्रिय लब्धि नहीं है ।

7. उत्तर वैक्रिय का काल

अंतमुहुत्तं निरए, मुहुत्त चत्तारि तिरिय मणुएसु ।
देवेसु अद्धमासो, उक्कोस विउव्वणा कालो ।।10।।

शब्दार्थ

अंतमुहुत्तं=अन्तर्मुहूर्त
निरए=नरक में
मुहुत्तचत्तारि=चार मुहूर्त
तिरिय=तिर्यंचगति
मणुएसु=मनुष्य गति में
देवेसु=देवों में
अद्धमासो=15 दिन
उक्कोस=उत्कृष्ट
विउव्वणा कालो=विकुर्वणा काल
।।10।।

गाथार्थ :- उत्कृष्ट विकुर्वण का काल नरक में अन्तर्मुहूर्त, तिर्यंच व मनुष्य में चार मुहूर्त और देवताओं में आधा मास (15 दिन) है ।

विवेचन :- जिसके पास वैक्रिय लब्धि होती है, वह अपनी वैक्रिय लब्धि के द्वारा नया वैक्रिय शरीर बना सकता है, परंतु वह वैक्रिय शरीर मर्यादित समय के लिए ही रहता है ।

देवताओं के द्वारा बनाया गया वह शरीर ज्यादा-से-ज्यादा 15 दिन तक रह सकता है, उसके बाद वह शरीर टिकता नहीं है ।

मनुष्य और तिर्यंचों के द्वारा बनाया गया उत्तर वैक्रिय शरीर चार मुहूर्त तक रहता है, उसके बाद उस शरीर का संहरण करना ही पड़ता है ।

वैक्रिय लब्धि की तरह जिनके पास आहारक लब्धि होती है, वे आहारक शरीर बनाते हैं । आहारक शरीर की जघन्य अवगाहना कुछ न्यून एक हाथ प्रमाण है और उत्कृष्ट अवगाहना एक हाथ प्रमाण है । जघन्य और उत्कृष्ट काल अन्तमुहूर्त प्रमाण है, उसके बाद वह शरीर अवश्य समाप्त होता है ।

8. तीसरा संघयण द्वार

थावर सुर नेरइया, असंघयणा य विगल छेवट्ठा ।
संघयण छग्गं गब्भय, नर तिरिएसु वि मुणेयव्वं ।।11।।

शब्दार्थ

थावर=स्थावर (एकेन्द्रिय जीव)
सुर=देवता
नेरइया=नारक जीव
अस्संघयणा=संघयण रहित
विगल=विकलेन्द्रिय
छेवट्ठा=सेवार्त संघयणवाले
संघयण=संघयण
छग्गं=छह
गब्भयनर=गर्भज मनुष्य
तिरिएसु=तिर्यंच में
मुणेयव्वं=जानना चाहिए ।
।।11।।

गाथार्थ :- पाँच स्थावर, देव तथा नारक के जीव संघयण रहित होते हैं । विकलेन्द्रिय में सेवार्त संघयण होता है । गर्भज मनुष्य और तिर्यंच में सभी छह प्रकार के संघयण होते हैं ।

विवेचन :- संघयण अर्थात् हड्डियों की रचना । सभी जीवों के शरीर में हड्डियाँ नहीं होती हैं ।

औदारिक शरीर के अतिरिक्त अन्य शरीर में हड्डियाँ नहीं होती हैं, इस कारण संघयण नाम कर्म का उदय औदारिक शरीर में ही होता है ।

संघयण के छह भेद हैं -

1. वज्रऋषभनाराच संघयण :- वज्र अर्थात् कीली, ऋषभ अर्थात् वेष्टन-पट्टी और नाराच अर्थात् दोनों ओर मर्कट बंध है । जिस संघयण में

दोनों ओर से मर्कट बंध से बँधी हुई दो हड्डियों को भेदने वाली हड्डी पर तीसरी हड्डी की कील लगी हो उसे वज्रऋषभ नाराच कहते हैं । जिस कर्म के उदय से हड्डियों की इस प्रकार की रचना हो उसे वज्रऋषभ नाराच संघयण कहते हैं ।

2. ऋषभनाराच संघयण :- जिस रचना विशेष में दोनों ओर हड्डियों का मर्कट बंध हो, तीसरी हड्डी का पट्ट भी हो, लेकिन तीनों को भेदने वाली हड्डी की कीली न हो । हड्डियों की इस प्रकार की रचना हो, उसे ऋषभ नाराच संघयण कहते है ।

3. नाराच संघयण :- जिस हड्डियों की रचना में दोनों ओर मर्कट बंध हो लेकिन पट्ट और कील न हो उसे नाराच संघयण कहते हैं ।

4. अर्धनाराच संघयण :- जिस हड्डियों की रचना में एक ओर मर्कटबंध और दूसरी ओर कील हो उसे अर्धनाराच संघयण कहते हैं ।

5. कीलिका संघयण :- जिस हड्डियों की रचना में मर्कट बंध और पट्ट न हो किंतु कील से हड्डियाँ जुड़ी हों उसे कीलिका संघयण कहते हैं ।

6. सेवार्त संघयण :- जिस हड्डियों की रचना में मर्कटबंध वेष्टन और कील न होकर यों ही हड्डियाँ आपस में जुड़ी हों उसे सेवार्त संघयण कहते हैं ।

24 दंड़कों में स्थावरों के 5 दंड़क, देवों के 13 दंड़क व नारक जीवों का 1 दंड़क, इस प्रकार 19 दंड़कों में हड्डियों का अभाव होने से संघयण नहीं होता है ।

शंख आदि द्वीन्द्रिय जीवों में, चींटी आदि त्रीन्द्रिय जीवों में तथा भ्रमर आदि चतुरिन्द्रिय जीवों में कहीं बारीक व कहीं स्पष्ट हड्डियाँ होती हैं । उन विकलेन्द्रियों में अंतिम सेवार्त संघयण होता है । गर्भज मनुष्य व तिर्यंचों में सभी प्रकार के संघयण होते हैं । परंतु एक समय में एक जीव को तो एक ही संघयण होता है ।

24 दंड़कों में संघयण

1 गर्भज मनुष्य	छह संघयण
1 गर्भज तिर्यंच	छह संघयण
3 विकलेन्द्रिय	सेवार्त संघयण
5 स्थावर	संघयण रहित
13 देव	संघयण रहित
1 नारक	संघयण रहित

9. चौथा संज्ञा द्वार, पाँचवाँ संस्थान द्वार

सव्वेसिं चउ दह वा, सन्ना सव्वे सुरा य चउरंसा ।
नर तिरि-छसंठाणा, हुंड़ा विगलिंदि नेरइया ।।12।।

शब्दार्थ

सव्वेसिं=सभी को
चउ=चार
दह=दश
वा=अथवा
सन्ना=संज्ञाएँ
सव्वे=सभी
सुरा=देवता
चउरंसा=समचतुरस्त्र संस्थानवाले
नर=मनुष्य
तिरि=तिर्यंच
छसंठाणा=छह संस्थान
हुंड़ा=हुंड़क संस्थान
विगलिंदि=विकलेन्द्रिय
नेरइया=नारक ।।12।।

गाथार्थ :- सभी जीवों को चार अथवा दश संज्ञाएँ होती हैं । सभी देवता समचतुरस्त्र संस्थान वाले, सभी गर्भज मनुष्य व तिर्यंच छहों संस्थानवाले तथा नारक विकलेन्द्रिय हुंड़क संस्थानवाले होते हैं ।

विवेचन :- संज्ञा-आभोग अर्थात् जिनका अनुभव किया जाय । ``यह जीव है'' जिससे ऐसा जाना जाय वह संज्ञा है । ये दो प्रकार की हैं-

1) क्षयोपशमजन्य, 2) कर्मोदयजन्य ।

1) ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली मतिज्ञान

की भेद रूप संज्ञायें होती है । ये तीनों दीर्घकालोपदेशिकी, हेतुवादोपदेशिकी, दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञायें क्षयोपशमजन्य हैं । (इनका वर्णन 33वीं गाथा में होगा ।)

2) कर्मोदयजन्य संज्ञा के चार भेद हैं-

1) आहारसंज्ञा-क्षुधा वेदनीय के उदय से तथाविध आहारादि के पुद्गलों को ग्रहण करने की अभिलाषा आहार संज्ञा है ।

आहारसंज्ञा की उत्पत्ति के चार कारण हैं-

1) अवमकोष्ठता=खाली पेट 2) क्षुधावेदनीय कर्म का उदय

3) भक्तकथा का श्रवण 4) सतत आहार का चिन्तन

2) भयसंज्ञा-भय मोहनीय के उदय से होने वाली अनुभूति भयसंज्ञा है । नेत्र, मुख आदि की विक्रिया तथा रोमांच आदि इसके लक्षण हैं ।

भयसंज्ञा की उत्पत्ति के चार कारण हैं-

1) हीनसत्त्वता-शौर्य का अभाव 2) भयमोहनीय का उदय

3) भयोत्पादक बात सुनना, दृश्य देखना 4) सात प्रकार के भयों का चिंतन ।

3) परिग्रह संज्ञा-लोभ मोहनीय के उदय से आसक्तिपूर्वक सचित्त व अचित्त द्रव्य को ग्रहण करना परिग्रह संज्ञा है ।

परिग्रह संज्ञा की उत्पत्ति के चार कारण हैं-

1) परिग्रहयुक्तता-त्याग का अभाव 2) लोभवेदनीय का उदय

3) परिग्रहवर्धक बात सुनना या दृश्य देखना 4) परिग्रह का चिंतन

4) मैथुन संज्ञा-वेदोदयवश स्त्री या पुरुष को देखना, देखकर प्रसन्न होना, ठहरना, कांपना आदि क्रिया मैथुनसंज्ञा है ।

मैथुन संज्ञा की उत्पत्ति के चार कारण हैं-

1) मांस, शोणित की वृद्धि 2) मोहनीय कर्म का उदय

3) कामकथा का श्रवण 4) मैथुन का चिंतन ।

सभी संसारी जीवों को संसारवास पर्यंत ये चारों संज्ञायें होती हैं । कुछ एकेन्द्रिय जीवों में तो ये संज्ञायें स्पष्ट दिखाई देती हैं ।

दस संज्ञा-समस्त जीवों के 1. आहार. 2. भय 3. परिग्रह 4. मैथुन 5. क्रोध 6. मान 7. माया 8. लोभ 9. लोक और 10. ओघ-ये दस संज्ञायें होती हैं ।

इनमें से कुछ संज्ञायें वेदनीय व मोहनीय जन्य हैं तथा कुछ संज्ञायें ज्ञानावरण व दर्शनावरण के क्षयोपशम से होती हैं ।

1. आहारसंज्ञा-पूर्ववत्

2. भयसंज्ञा-पूर्ववत्

3. मैथुनसंज्ञा-पूर्ववत्

4. परिग्रहसंज्ञा-पूर्ववत्

5. क्रोधसंज्ञा :- जिसके उदय से नेत्र और मुख पर कठोरता आना, दाँत किटकिटाना, होठ फड़फड़ाना आदि चेष्टायें हों, ये क्रोध उदयजन्य हैं ।

6. मानसंज्ञा :- गर्व की कारणभूत संज्ञा । यह मानकषाय जन्य है ।

7. मायासंज्ञा :- संक्लेश पूर्वक असत्यभाषण आदि करना । यह माया कषायजन्य है ।

8. लोभसंज्ञा :- लालसा रखते हुए सचित्त या अचित्त द्रव्यों की प्रार्थना करना । यह लोभकषाय जन्य है ।

9. ओघसंज्ञा :- मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से शब्दादि का सामान्य ज्ञान होना, ओघ संज्ञा है ।

10. लोकसंज्ञा :- मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से शब्दादि का विशेष ज्ञान होना, लोकसंज्ञा है ।

◆ ओघसंज्ञा दर्शनोपयोगरूप है तथा लोकसंज्ञा ज्ञानोपयोग रूप है । यह **स्थानांग-**टीका का मत है ।

आचारांग की टीका के अनुसार :-

◆ **ओघसंज्ञा-**अव्यक्त उपयोगरूप है जैसे-लता आदि का स्वभावतः समीप वर्ती पेड़, खंभे इत्यादि पर चढ़ना ।

◆ **लोकसंज्ञा-**लोकों की स्वतन्त्र कल्पना के अनुसार प्रवृत्ति करना लोकसंज्ञा है । जैसे यह कहना कि-निस्संतान की गति नहीं होती, मयूरपंख की हवा से गर्भधारण होता है, कुत्ते यक्षरूप हैं, कौए पितामह हैं, इत्यादि ।

ये संज्ञायें सभी संसारी जीवों के होती हैं किंतु पञ्चेन्द्रिय जीवों में स्पष्ट दिखाई देती हैं और एकेन्द्रिय आदि में अव्यक्त रूप में होती हैं ।

15 - संज्ञाएं

पन्द्रह संज्ञा :- 1. आहार 2. भय 3. परिग्रह 4. मैथुन 5. सुख 6. दुःख 7. मोह 8. विचिकित्सा 9. क्रोध 10. मान 11. माया 12. लोभ 13. लोक 14. धर्म और 15. ओघ-ये पन्द्रह संज्ञायें हैं ।

1 से 10 तक पूर्ववत् समझना चाहिए ।

11. **सुखसंज्ञा-**साता वेदनीय रूप है ।

12. **दुःखसंज्ञा-**असाता वेदनीय रूप है ।

13. **मोहसंज्ञा-**मिथ्यादर्शन रूप है ।

14. **विचिकित्सासंज्ञा-**चित्त की अस्थिरता है ।

15. **धर्म संज्ञा-**क्षमा, मार्दव आदि सद्गुणों का आसेवन करना ।

◆ जीव विशेष का ग्रहण न होने से ये संज्ञायें यथासंभव सभी जीवों के होती हैं ।

◆ आचारांग में सोलहवीं शोकसंज्ञा भी है । शोकसंज्ञा, रुदनरूप एवं दीनतारूप है ।

24 दंड़कों में से संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों में ये संज्ञाएँ स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं, जबकि एकेन्द्रिय में भी ये संज्ञाएँ तो होती हैं, परंतु अव्यक्त रूप में होती हैं, अस्पष्ट होती हैं । उनके बाह्य व्यवहार से उन संज्ञाओं का अनुमान होता है । जैसे-

1) पानी और खाद मिलने पर वनस्पति में पोषण होता है, यह आहार संज्ञा है ।

2) हाथ का स्पर्श होने पर छुइमुइ वनस्पति संकुचित हो जाती है । यह भय संज्ञा है ।

3) बिल्व-पलाशादि वनस्पति जमीन में गड़े धन पर अपने मूल को फैला देती है, यह परिग्रह संज्ञा है ।

4) कुरुबक, अशोक, तिलक आदि वृक्ष स्त्री के आलिंगन, पाद प्रहार, कटाक्ष निक्षेप आदि से फलता है, यह मैथुन संज्ञा का प्रतीक है ।

5) कोकनद वृक्ष फूत्कार आवाज करता है, यह क्रोध संज्ञा का प्रतीक है ।

6) सूर्य उगने पर सूर्य विकासी कमल और चंद्र के उगने पर चंद्रविकासी कमल खिल जाते हैं ।

इस प्रकार एकेन्द्रिय जीवों में अनुमान से संज्ञाएँ स्पष्ट हैं ।

चार गति की अपेक्षा विचार किया जाय तो देवगति में परिग्रह और लोभ संज्ञा अधिक है । मनुष्य में मान व मैथुन संज्ञा, नरक गति में भय व क्रोध संज्ञा व तिर्यंच गति में माया व आहार संज्ञा अधिक होती है ।

संस्थान द्वार

छह संस्थान : शरीर के आकार को संस्थान कहते हैं । जिस कर्म के उदय से संस्थान की प्राप्ति हो उसे संस्थान नाम कर्म कहते हैं । मनुष्य आदि में जो शारीरिक विभिन्नताएँ और आकृति में विविधताएँ दिखाई देती हैं, उसका कारण संस्थान नाम कर्म है ।

संस्थान के छह भेद हैं :-

1. समचतुरस्त्र संस्थान : सम=समान, चतुर=चार तथा अस्त्र=कोण । पर्यंकासन में बैठे हुए पुरुष के दो घुटने का अंतर, बाएँ स्कंध व दाएँ घुटने का अन्तर, दाएँ स्कंध और बाएँ घुटने का अंतर तथा आसन और ललाट का अंतर एक समान हों उसे समचतुरस्त्र संस्थान कहते हैं ।

2. न्यग्रोध परिमंड़ल संस्थान : जिस शरीर की आकृति न्यग्रोध के समान हो अर्थात् शरीर में नाभि से ऊपर के अवयव पूर्ण व व्यवस्थित हों तथा नाभि से नीचे के अवयव हीन हों, उसे न्यग्रोध परिमंड़ल संस्थान कहते हैं ।

3. सादि संस्थान : जिस शरीर की आकृति नाभि से ऊपर के अवयव हीन हों और नाभि से नीचे के अवयव पूर्ण व्यवस्थित हों, उसे सादि संस्थान कहते हैं ।

4. वामन संस्थान : जिस शरीर का आकृति वामन (बौना) हों उसे वामन संस्थान कहते हैं ।

5. कुब्ज संस्थान : जिस शरीर की आकृति कुब्ज (कुबडा) हों, उसे कुब्ज संस्थान कहते हैं ।

6. हुण्ड़क संस्थान : जिस शरीर के सभी अवयव बेड़ौल हों उसे हुंड़क संस्थान कहते हैं ।

24 दंड़कों में से देवों के 13 दंड़क में सभी को समचतुरस्त्र संस्थान ही होता है । यह संस्थान भवधारणीय शरीर की अपेक्षा से है । उत्तर वैक्रिय संस्थान तो अनेक प्रकार का हो सकता है ।

गर्भज तिर्यंच और मनुष्य में सभी छहों संस्थान होते हैं । युगलिक मनुष्य और तिर्यंचों में समचतुरस्त्र संस्थान ही होता है । शेष संख्याता वर्ष के मनुष्य-तिर्यंचों को सभी छह संस्थान होते हैं ।

संख्याता वर्ष के आयुष्यवाले तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव व प्रतिवासुदेव को पहला समचतुरस्त्र संस्थान ही होता है ।

विकलेन्द्रिय और नारकों को छठा हुंड़क संस्थान होता है ।

नाणाविह धय-सुई, बुब्बुय वण वाउ तेउ अपकाया ।
पुढवी मसूर चंदा, कारा संठाणओ भणिया ।।13।।

शब्दार्थ

नाणाविह=अनेक प्रकार के	**अपकाया=**अप्काय
धय=ध्वजा	**पुढवी=**पृथ्वी
सुई=सुइ	**मसूर=**मसूर की दाल
बुब्बुय=परपोटा	**चंदाकारा=**आधे चंद्र के आकार वाला
वण=वनस्पति	**संठाणओ=**संस्थान
वाउ=वायुकाय	**भणिया=**कहे गए हैं ।
तेउ=अग्निकाय	।।13।।

गाथार्थ :- वनस्पतिकाय भिन्न-भिन्न संस्थानवाली होती है, वायुकाय का संस्थान ध्वजा के आकार का होता है, अग्नि का संस्थान सुई जैसा, अप्काय का संस्थान परपोटे जैसा तथा पृथ्वीकाय का संस्थान मसूर की दाल अथवा चंद्र के आकारवाला होता है ।

विवेचन :- प्रत्येक वनस्पति हमें भिन्न-भिन्न आकारवाली दिखाई देती है, अतः उसका आकार निश्चित नहीं है ।

वायुकाय का आकार ध्वजा के आकार जैसा होता है ।

अग्निकाय का आकार सुई के आकार जैसा होता है ।

अप्काय का आकार परपोटे के आकार जैसा होता है ।

पृथ्वीकाय का आकार मसूर की दाल जैसा होता है ।

प्रत्येक वनस्पतिकाय के बाह्य आकार को हम चर्म चक्षुओं द्वारा देख सकते हैं । जबकि वायुकाय आदि के एक जीव के आकार को चर्म चक्षुओं से नहीं देख सकते हैं ।

24 दंड़कों में छह संस्थान	
13 देव	समचतुरस्त्र संस्थान
1 गर्भज मनुष्य	छह सस्थान
1 गर्भज तिर्यंच	छह संस्थान
3 विकलेन्द्रिय	हुंड़क संस्थान
1 नारक	हुंड़क संस्थान
5 स्थावर	हुंड़क संस्थान

10. छठा कषाय द्वार, सातवाँ लेश्या द्वार

सव्वे वि चउकसाया, लेस छग्गं गब्भतिरियमणुएसु ।
नारय तेऊवाऊ, विगला वेमाणिय ति लेसा ।।14।।

शब्दार्थ

सव्वे=सभी
वि=भी
चउकसाया=चार कषाय
लेस छग्गं=छह लेश्याएँ
गब्भ=गर्भज
तिरिय मणुएसु=तिर्यंच व मनुष्यों में
नारय=नारक जीवों में
तेऊवाऊ=तेजकाय, वायुकाय
विगला=विकलेन्द्रिय
वेमाणि=वैमानिक
तिलेसा=तीन लेश्या

।।14।।

गाथार्थ :- सभी जीव चार कषायवाले होते हैं । गर्भज तिर्यंच और मनुष्य को छह लेश्याएँ होती हैं । नारक, अग्निकाय, वायुकाय, विकलेन्द्रिय और वैमानिकों को तीन लेश्या होती हैं ।

विवेचन :– कष अर्थात् संसार और आय अर्थात् लाभ । जिन परिणामों से आत्मा के संसार की अभिवृद्धि होती हो, उसे **कषाय** कहते हैं । कषाय के मुख्यतया चार भेद हैं-क्रोध, मान, माया और लोभ ।

1) क्रोध अर्थात् आक्रोश : सामनेवाले को मार ड़ालने आदि के परिणाम ! क्रोध में आदमी की आँखें लाल हो जाती हैं, उसकी भाषा अत्यंत कठोर हो जाती है, वह नहीं बोलने के शब्द भी बोल देता है । क्रोध में सामनेवाले को हैरान-परेशान करने का भाव होता है ।

2) मान अर्थात् अभिमान : अभिमानी व्यक्ति सामनेवाले को कुछ ही नहीं गिनता है । `मैं कुछ जानता हूँ' यह भाव उसकी भाषा में स्पष्ट दिखाई देता है । I am something का भाव सदा रहता है । अभिमानी व्यक्ति सामनेवाले का अनादर, अपमान व तिरस्कार किए बिना नहीं रहता है ।

3. माया अर्थात् कपट युक्त प्रवृत्ति । `मुख में राम बगल में छुरी' जैसी स्थिति मायावी की होती है । हाथी के दाँत खाने के अलग होते हैं और दिखाने के अलग होते हैं । जिसके बाह्य व्यवहार और मन के परिणाम में मेल नहीं खाता है, वह मायावी कहलाता है । मायावी का बाह्य व्यवहार अच्छा होता है, परंतु उसके मन के परिणाम भयंकर होते हैं ।

4. लोभ अर्थात् प्राप्त सामग्री में असंतोष और अधिक-से-अधिक पाने की लालसा । जो मिला है, उसमें किसी प्रकार का संतोष नहीं होना, लोभ कहलाता है । लोभी को चाहे जितना मिल जाय, फिर भी उसे संतोष नहीं होता है । लोभी का मन हमेशा भूखा का भूखा ही रहता है ।

सभी 24 दंड़कों में अर्थात् सभी जीवों में क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों कषाय होते हैं । एकेन्द्रिय जीवों में भी क्रोध आदि कषायों का उदय तो होता है, परंतु वह अस्पष्ट होता है । द्वीन्द्रिय आदि में ये कषाय अधिक-अधिक स्पष्ट होते हैं । जो वीतराग बन चुके हैं अथवा मोक्ष में गए हैं, वे कषायों से सर्वथा रहित हैं ।

लेश्या द्वार

लेश्या अर्थात् आत्मा के शुभ-अशुभ परिणाम । वे परिणाम कृष्ण, नील आदि द्रव्यों के संयोग से उत्पन्न होते हैं । वे द्रव्य कृष्ण आदि लेश्यावाले जीव के हमेशा पास में रहते हैं । उन द्रव्यों के साथ में रहने से आत्मा में जो परिणाम पैदा होते हैं, मुख्यतया तो वे ही लेश्या हैं किंतु गौणरूप से उन परिणामों में हेतुभूत द्रव्य भी लेश्या कहलाते हैं ।

छह लेश्यावालों का जीवन

1. कृष्णलेश्यावाली आत्मा :- कृष्ण-लेश्यावाली आत्मा अत्यंत निर्दय, अत्यंत क्रोधी, अत्यंत क्रूर, भयंकर मुखाकृतिवाली, अत्यंत तीक्ष्ण कठोर और किसी की भी हत्या करने के स्वभाववाली होती है ।

2. नीललेश्यावाली आत्मा :- नीललेश्यावाली आत्मा मायावी, दंभी, रिश्वतलेने के आग्रहवाली, कामांध और मृषावादी होती है ।

3. कापोतलेश्यावाली आत्मा :- कापोत-लेश्यावाली आत्मा मूर्ख, आरंभ समारंभ में मग्न, पाप को पाप नहीं माननेवाली, बिना सोचे-समझे प्रवृत्ति करनेवाली तथा क्रोधी होती है ।

4. तेजोलेश्यावाली आत्मा :- तेजोलेश्यावाली आत्मा दक्ष, अच्छे काम करनेवाली, सरल, दानी, शीलयुक्त तथा धर्मबुद्धि से युक्त होती है ।

5. पद्मलेश्यावाली आत्मा :- पद्मलेश्यावाली आत्मा अत्यंत ही दयालु, सरल, दानी, स्थिर, अतिकुशल, कुशाग्रबुद्धिवाली और ज्ञानी होती है ।

6. शुक्ललेश्यावाली आत्मा :- शुक्ललेश्यावाली आत्मा धर्मबुद्धि से युक्त, सभी पापप्रवृत्तियों से दूर रहनेवाली एवं सत्कार्यों में रुचि रखनेवाली होती है ।

छह लेश्याओं पर दृष्टांत

मार्ग भूले छह पथिक किसी जंगल में चले गए । उन्हें अत्यंत ही भूख लगी । उन्होंने जामुन से लदा एक वृक्ष देखा । वृक्ष को देख सभी जामुन खाने के लिए लालायित हुए ।

उसी समय कृष्ण लेश्यावाला व्यक्ति बोला, `भूख लगी है, जामून भी हैं तो क्यों न इस झाड़ को ही उखाड़ दें ।'

अपने स्वार्थ के लिए दूसरे के प्राणों की परवाह नहीं करनेवाला अत्यंत क्रूर व्यक्ति कृष्ण लेश्यावाला कहलाता है ।

उसी समय नील लेश्यावाले ने कहा, `इतने बड़े वृक्ष को उखाड़ने से क्या फायदा ? क्यों न इसकी बड़ी ड़ाल को ही काट दें, जिससे हम भरपेट जामुन खा सकेंगे ।

कई स्वार्थ में अंधे बने अपने स्वार्थ के लिए दूसरों के महत्त्व पूर्ण अंग को नष्ट करने के लिए भी तैयार हो जाते हैं, वे जीव नील लेश्यावाले हैं ।

उसी समय कापोतलेश्यावाले तीसरे व्यक्ति ने कहा, इतनी बड़ी ड़ाल को काटने के बजाय क्यों न जामुन फल से लदी छोटी डाल को तोड़ लें ।

अपने स्वार्थ के लिए दूसरों को कम-ज्यादा नुकसान पहुँचानेवाले जीव कापोत लेश्यावाले होते हैं ।

उसी समय तेजो लेश्या वाले चौथे व्यक्ति ने कहा, वृक्ष की ड़ाल तोड़ने से क्या फायदा ? क्यों न जामुन के गुच्छे को ही तोड़ लें ।'

अपने स्वार्थ के लिए दूसरों को नुकसान न हो, ऐसी सावधानी रखनेवाले जीव तेजोलेश्यावाले होते हैं ।

उसी समय पद्मलेश्यावाले पांचवे व्यक्ति ने कहा- हमें जामुन से मतलब है तो गुच्छों को क्यों तोड़ें । क्यों न जामुन ही चुन लें !

अपने स्वार्थ के लिए दूसरों को थोड़ी भी हानि न हो, ऐसा ख्याल रखनेवाले जीव पद्म लेश्यावाले कहलाते हैं ।

उसी समय शुक्ल लेश्यावाले छठे व्यक्ति ने कहा, `भूमि पर बहुत से जामुन गिरे हुए हैं, क्यों न उन फलों को खाकर ही हम अपना पेट भर लें ।'

अपने स्वार्थ के लिए दूसरों को लेश भी हानि नहीं पहुँचाने की भावनावाले जीव शुक्ल लेश्या वाले होते हैं ।

भावीगति : मृत्यु के समय में जीव को जैसी लेश्या होती है, वैसी ही जीव की परलोक में गति होती है ।

संख्या प्रमाण : जगत् में शुक्ल लेश्यावाले जीव बहुत कम हैं, उससे असंख्य गुणा पद्मलेश्यावाले, उससे असंख्यगुणा तेजोलेश्यावाले, उससे अनंतगुण अधिक कापोत लेश्यावाले, उससे विशेषाधिक नीललेश्यावाले और उससे विशेषाधिक कृष्ण लेश्यावाले हैं ।

इन छह लेश्याओं में कृष्ण, नील और कापोत लेश्या अशुभ होती हैं और तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या शुभ होती हैं ।

24 दंड़कों में से गर्भज तिर्यंच और मनुष्य में सभी छह लेश्याएँ होती हैं । एक समय में एक ही लेश्या अन्तर्मुहूर्त तक रहकर फिर बदलती है और

दूसरी लेश्या प्रकट होती है । 1 नारक, 1 अग्निकाय, 1 वायुकाय और तीन विकलेन्द्रिय में कृष्ण, नील और कापोत ये तीन अशुभ लेश्याएँ होती हैं, जबकि वैमानिक देवों में तेज, पद्म और शुक्ल ये तीन शुभ लेश्याएँ होती हैं ।

7 नारकों में लेश्या की तरतमता :- रत्नप्रभा व शर्कराप्रभा में सभी नारकों को कापोतलेश्या होती है । वालुकाप्रभा में 3 सागरोपम के आयुष्य तक कापोत और उससे अधिक आयुष्यवाले नारकों को नील लेश्या होती है । पंकप्रभा में सभी नारकों को नील लेश्या होती है । धूम प्रभा में 10 सागरोपम के आयुष्यवालों को नील और उससे अधिक आयुष्यवालों को कृष्णलेश्या होती है । छठी व सातवीं नरक में सभी को कृष्णलेश्या होती है ।

वैमानिक देवों में लेश्याएं :- पहले व दूसरे वैमानिक देवलोक में तेजोलेश्या होती है । 3-4 व 5 वें देवलोक में पद्म लेश्या होती है ।

छठे देवलोक से ऊपर के सर्वार्थसिद्ध विमान तक के देवों में शुक्ल लेश्या होती है । ऊपर ऊपर के देवलोक में शुक्ल लेश्या भी अधिक-अधिक शुद्ध होती है ।

नरक व देवलोक में जो नियत लेश्याएँ बतलाई गई हैं वे कृष्ण आदि द्रव्य रूप लेश्याएँ हैं, क्योंकि देव और नरक में उन लेश्या द्रव्यों का उदय अवस्थित होता है । अतः देव व नरक की प्रतिनियत लेश्याएँ, द्रव्यलेश्या रूप है । उनकी भी भाव लेश्या तो बदलती रहती हैं ।

प्रश्न : सातवीं नरक के जीवों में तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या नहीं होती है, उन्हें तो सिर्फ कृष्ण लेश्या ही होती है । तो फिर उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति कैसे होगी ? क्योंकि सम्यक्त्व की प्राप्ति तो तेज, पद्म और शुक्ल लेश्या के अस्तित्व में ही होती है ।

उत्तर : सातवीं नरक में कृष्ण लेश्या और अन्य नरकों में कृष्ण, नील और कापोत रूप तीन अशुभ लेश्यायें कही हैं, वह द्रव्य लेश्या की अपेक्षा से समझना चाहिए ।

भाव परावर्तन की अपेक्षा से तो नरक में सभी छह लेश्यायें होती हैं ।

तिर्यंच और मनुष्य के लेश्या द्रव्य अवस्थित नहीं होते हैं । वे अन्य लेश्या द्रव्यों को पाकर अपने स्वरूप का त्यागकर उस रूप में परिणत हो जाते हैं ।

11. लेश्या द्वार चालू-आठवाँ इन्द्रिय द्वार, नौवाँ समुद्घात द्वार

जोइसिय तेउलेसा, सेसा सव्वे वि हुंति चउलेसा ।
इंदियदारं सुगमं, मणुआणं सत्त समुग्घाया ।।15।।
वेयण कसाय मरणे, वेउव्विय तेयए य आहारे ।
केवलि य समुग्घाया, सत्त इमे हुंति सन्नीणं ।।16।।
एगिंदियाण केवल, तेउ आहारगविणा उ चत्तारि ।
ते वेउव्वियवज्जा, विगला सन्नीण ते चेव ।।17।।

शब्दार्थ

जोइसिय=ज्योतिष
तेउलेसा=तेजोलेश्या
सेसा=शेष
सव्वेवि=सभी
हुंति=होते हैं
चउलेसा=चार लेश्यावाले

इंदियदारं=इन्द्रिय द्वार
सुगमं=सरल
मणुआणं=मनुष्य को
सत्त=सात
समुग्घाया=समुद्घात
।।15।।

वेयण=वेदना
कसाय=कषाय
मरणे=मरण
वेउव्विय=वैक्रिय
तेयए=तैजस
आहारे=आहारक

केवलि=केवली
य=तथा
समुग्घाया=समुद्घात
सत्त=सात
इमेहुंति=ये होते हैं
सन्नीणं=संज्ञी प्राणी ।।16।।

एगिंदियाण=एकेन्द्रिय को
केवल=सिर्फ
तेउ=तैजस समुद्घात
आहारग=आहारक समुद्घात
विणा=छोड़कर
चत्तारि=चार

ते=वे
वेउव्विय=वैक्रिय समुद्घात
वज्जा=छोड़कर
विगला=विकलेन्द्रिय
सन्नीण=संज्ञी जीवों को
ते=वे
चेव=अवश्य ।।17।।

गाथार्थ :- ज्योतिषी देव तेजोलेश्यावाले होते हैं और शेष सभी भवनपति व व्यंतर चार लेश्यावाले होते हैं ।

इन्द्रिय द्वार सरल है । मनुष्य को सात समुद्घात होते हैं । ।।15।।

वेदना, कषाय, मरण, वैक्रिय, तैजस, आहारक और केवली ये सात समुद्घात हैं । संज्ञी जीवों को सात समुद्घात होते हैं ।।16।।

एकेन्द्रिय जीवों को केवली, तैजस और आहारक छोड़कर चार समुद्घात होते हैं । विकलेन्द्रिय को वैक्रिय छोड़कर शेष तीन होते हैं । संज्ञी पंचेन्द्रिय को 7 समुद्घात होते हैं ।।17।।

विवेचन :- सूर्य, चंद्र, ग्रह, नक्षत्र और तारा इन पाँच ज्योतिष निकाय के देवों में तेजो लेश्या ही होती है । इसके सिवाय भवनपति के 10 और व्यंतर के 1 इस प्रकार कुल 11 दंड़कों में कुछ देवताओं को जीवन पर्यंत तेजोलेश्या होती है, अनेक को कृष्ण लेश्या, अनेक को नील लेश्या और अनेक को कापोत लेश्या होती है ।

पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय इन तीन दंड़कों में प्रत्येक जीव में कृष्ण, नील और कापोत लेश्या होती हैं, परंतु वे बदलती रहती हैं ।

ईशान कल्प तक के देवता मरकर बादर पृथ्वीकाय, बादर अप्काय व बादर वनस्पतिकाय में पैदा हो जायें तो उन्हें उस भव के पहले अन्तर्मुहूर्त में अपर्याप्त अवस्था तक चौथी तेजोलेश्या भी हो सकती है । इसके सिवाय पर्याप्त अवस्था में तो सिर्फ तीन लेश्याएँ ही होती हैं ।

24 दंड़कों में 6 लेश्याएँ

दंड़क	लेश्याएँ	दंड़क	लेश्याएं
1 गर्भज तिर्यंच	6	1 वैमानिक	3 शुभ
1 गर्भज मनुष्य	6	1 ज्योतिषी	1 तेजोलेश्या
1 नारक	3 अशुभ	शेष 14 (10 भवनपति, 3 स्थावर, 1 व्यंतर)	प्रथम चार लेश्याएँ (कृष्ण, नील, कापोत, तेजो)
1 अग्निकाय	3 अशुभ		
1 वायुकाय	3 अशुभ		
3 विकलेन्द्रिय	3 अशुभ		

इन्द्रिय द्वार

1. स्पर्शनेन्द्रिय :- जिस इन्द्रिय से स्पर्श का ज्ञान होता है वह है स्पर्शनेन्द्रिय-त्वचा ।

2. रसनेन्द्रिय :- जिस इन्द्रिय से रस का ज्ञान होता है वह है रसनेन्द्रिय-जीभ ।

3. घ्राणेन्द्रिय :- जिस इन्द्रिय से गंध का ज्ञान होता है वह है घ्राणेन्द्रिय-नाक ।

4. चक्षुरिन्द्रिय :- जिस इन्द्रिय से रूप का ज्ञान होता है वह है चक्षुरिन्द्रिय-आँख ।

5. श्रोत्रेन्द्रिय :- जिस इन्द्रिय से शब्द का ज्ञान होता है वह है श्रोत्रेन्द्रिय-कान ।

इन्द्रिय के दो भेद हैं :-

1. द्रव्येन्द्रिय :- नाक, कान आदि इन्द्रियों की बाहरी और भीतरी पौद्गलिक रचना (आकार विशेष) को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं ।

2. भावेन्द्रिय :- आत्मा के क्षयोपशम विशेष को भावेन्द्रिय कहते हैं ।

द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं-निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय और उपकरण द्रव्येन्द्रिय ।

इन्द्रिय की आकार रचना को निर्वृत्ति-द्रव्येन्द्रिय कहते हैं । आकार भी दो प्रकार के हैं- 1) बाह्य और 2) आभ्यंतर

1) बाह्य निर्वृत्ति :- आँख, कान आदि इन्द्रियों का बाह्य आकार । भिन्न-भिन्न जीवों की अपेक्षा इन्द्रियों का आकार भिन्न-भिन्न होता है । उदाहरणार्थ मनुष्य के कान लंबे-गोल व सीप के आकार के होते हैं । किन्तु घोड़े के कान नीचे से चौड़े और ऊपर की ओर जाते-जाते एकदम पतले व तीखे होते हैं ।

2) आभ्यंतर निर्वृत्ति :- आँख, कान आदि इन्द्रियों के बाह्य आकारों के भीतर में स्थित, स्वच्छतर पुद्गलों की रचना । इन्द्रियों का आभ्यंतर आकार निम्नवत् है । जैसे-

- श्रोत्रेन्द्रिय का आभ्यंतर आकार कदंब के फूल जैसा है ।
- चक्षुरिन्द्रिय का मसूर की दाल जैसा है ।

◆ घ्राणेन्द्रिय का अतिमुक्तक पुष्प जैसा है । पडदाम (वाघ) जैसा ।

◆ रसनेन्द्रिय का खुरपे जैसा है ।

◆ स्पर्शनेन्द्रिय का आकार अनेक प्रकार का होता है । क्योंकि जीवों के शरीर का आकार अलग-अलग है । यही कारण है कि स्पर्शनेन्द्रिय के बाह्यआभ्यंतर दो भेद नहीं होते क्योंकि उसका आभ्यंतर आकार, बाह्य आकार के समान ही होता है ।

2) उपकरण द्रव्येन्द्रिय :- आभ्यंतर निर्वृत्ति के भीतर रहने वाली अपने-अपने विषय की ग्राहक पौद्‌गलिक शक्ति विशेष उपकरण द्रव्येन्द्रिय है ।

प्रश्न :- आभ्यंतर निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय और उपकरण द्रव्येन्द्रिय में क्या भेद है ।

उत्तर :- आभ्यंतर निर्वृत्ति है इन्द्रियों की भीतरी पौद्गलिक संरचना और उपकरण है उसके भीतर विद्यमान अपने-अपने विषयों को ग्रहण करने वाली पौद्गलिक शक्ति । वात, पित्त आदि से उपकरण द्रव्येन्द्रिय का नाश हो जाने पर मात्र आभ्यंतर द्रव्येन्द्रिय से विषयों का ग्रहण नहीं होता । उदाहरणार्थ- बाह्यनिर्वृत्ति है तलवार, आभ्यंतर निर्वृत्ति है तलवार की धार और उपकरण है तलवार की छेदन-भेदन शक्ति ।

उपकरणरूप द्रव्येन्द्रिय और आभ्यंतर निर्वृत्ति, अपेक्षा भेद से भिन्न और अभिन्न दोनों है । भिन्न इस दृष्टि से है कि आभ्यंतर निर्वृत्ति इन्द्रिय का सद्‌भाव होने पर भी यदि उपकरण इन्द्रिय आहत (खराब) हो जाती है, तो विषय का ज्ञान नहीं होता है । अभिन्न इस दृष्टि से है कि उपकरण इन्द्रिय, आभ्यंतर निर्वृत्ति इन्द्रिय की शक्ति रूप है और शक्ति व शक्तिमान के मध्य अभेद सम्बन्ध होता है ।

भावेन्द्रिय के दो भेद हैं :-

1) लब्धि-भावेन्द्रिय :- इन्द्रियों से संबद्ध ज्ञानावरणीय और दर्शना-वरणीय कर्म का क्षयोपशम लब्धि भावेन्द्रिय है ।

2) उपयोग-भावेन्द्रिय :- ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त शक्ति की प्रवृत्ति को उपयोग भावेन्द्रिय कहते हैं ।

जीव को लब्धि भावेन्द्रिय के रूप में ज्ञानशक्ति प्राप्त (लाभ) होती है और उस प्राप्त हुई ज्ञानशक्ति का उपयोग करना वह उपयोग भावेन्द्रिय है । जीव को जितनी ज्ञानशक्ति प्राप्त हुई हो, उसे वह पूरी तरह से उपयोग नहीं करता है । जैसे निद्रावस्था में हमें प्राप्त हुई ज्ञानशक्ति का हम उपयोग नहीं करते हैं । जागृत अवस्था में भी हम अपनी ज्ञानशक्ति का हमेशा एक समान उपयोग नहीं करते हैं ।

द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय के स्वरूप को समझने के लिए तलवार का उदाहरण है । जैसे किसी सैनिक को युद्ध-मैदान में अपना पराक्रम दिखाने के लिए तीक्ष्ण धारवाली तलवार चाहिए तो साथ ही उसे चलाने की कला भी चाहिए । वैसे ही इन्द्रिय का उपयोग करने के लिए जीव को द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय दोनों चाहिए ।

तलवार के उदाहरण से इन्द्रिय के कार्य

बाह्य निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय तलवार के स्थान पर है । अभ्यंतर निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय तलवार की धार के स्थान पर है । उपकरण द्रव्येन्द्रिय धार की शक्ति के स्थान पर है । लब्धि भावेन्द्रिय सैनिक की तलवार को चलाने की कला के स्थान पर है । उपयोग भावेन्द्रिय उसके तलवार चलाने की कला के उपयोग के स्थान पर है ।

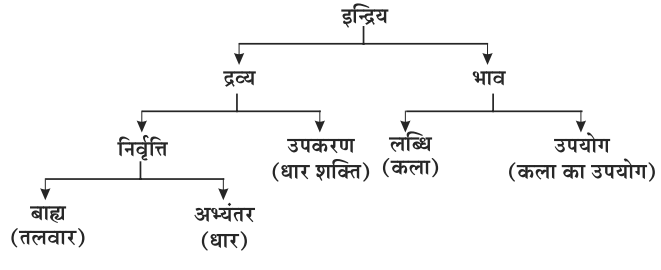

जीव को ज्ञान करने के लिए इन सभी प्रकार की इन्द्रियों का होना खूब जरूरी है । यदि एक भी इन्द्रिय की कमी हो तो ज्ञान नहीं हो सकता है ।

पांच इन्द्रियों के विषयमान एवं कारण

नाम	विस्तार	जघन्य	उत्कृष्ट विषयमान
1. श्रोत्र	अंगुल का असंख्यातवाँ भाग	अंगुल के असंख्यातवें भाग की दूरी से आगत शब्द	12 योजन से आगत शब्द
2. चक्षु	अंगुल का असंख्यातवाँ भाग	अंगुल के संख्यातवें भाग की दूरी पर स्थित रूप	साधिक 1 लाख योजन में स्थित रूप
3. घ्राण	अंगुल का असंख्यातवाँ भाग	अंगुल के असंख्यातवें भाग से आगत गंध को	9 योजन से आगत गंध को
4. रसन	2 से 9 अंगुल	अंगुल के असंख्यातवें भाग से आगत रस	9 योजन से आगत स्पर्श को
5. स्पर्शन	स्व-शरीर प्रमाण	अंगुल के असंख्यातवें भाग से आगत स्पर्श को	9 योजन से आगत स्पर्श को

◆ श्रोत्र, चक्षु, घ्राण व रसन इन चारों इन्द्रियों का विस्तार आत्मांगुल से तथा स्पर्शनेन्द्रिय का विस्तार उत्सेधांगुल से मापा जाता है । यदि अन्य इन्द्रियों का विस्तार भी उत्सेधांगुल से ही लिया जाये तो तीन कोस की अवगाहना वाले मनुष्यों को तथा छह कोस की अवगाहना वाले हाथियों को विषय का ज्ञान नहीं होगा । जीभ शरीर के अनुपात में होती है तभी वह अपने विषय को ग्रहण कर सकती है । यदि उसका प्रमाण उत्सेधांगुल से माना जाये तो जीभ शरीर की अपेक्षा अतिअल्प होगी और इतने अल्प प्रमाणवाली जीभ अपने विषय का ज्ञान करने में समर्थ नहीं हो सकती । अतः पूर्वोक्त चारों इन्द्रियों का विस्तार आत्मांगुल से ही लिया जाता है । परन्तु विषयग्रहण का परिमाप सभी इन्द्रियों का आत्मांगुल से ही समझना चाहिए ।

◆ श्रोत्रेन्द्रिय अधिक से अधिक 12 योजन दूर से आये हुए मेघ आदि के शब्द को ग्रहण कर सकती है । इससे अधिक दूर का नहीं । इससे अधिक दूर से आगत शब्द कमजोर हो जाने से इन्द्रिय ग्राह्य नहीं बनता ।

◆ `चक्षुरिन्द्रिय 1 लाख योजन से अधिक दूर रहे हुए विषय को ग्रहण करती है' यह कथन निस्तेज पदार्थों की अपेक्षा से है । तेजस्वी चन्द्र, सूर्य

आदि पदार्थ तो प्रमाणांगुल से निष्पन्न 21 लाख योजन की दूरी से भी ग्राह्य होते हैं । जैसे पुष्करवरद्वीप के निवासी मनुष्य (मानुषोत्तर पर्वत के निकटवर्ती) कर्क संक्रान्ति के दिन 21,34,537 योजन दूर से उदय-अस्त होते हुए सूर्य को देख सकते हैं ।

◆ घ्राण, रसन व स्पर्शन 9 योजन दूर स्थित विषय को ही ग्रहण कर सकते हैं । इससे अधिक दूरस्थ को नहीं ।

◆ चक्षुरिन्द्रिय जघन्य से आत्मांगुल के संख्यातवें भाग प्रमाण दूर रहे हुए विषय को ही ग्रहण कर सकती है । इससे अधिक समीपस्थ को नहीं । कारण, चक्षु अप्राप्यकारी होने से असंयुक्त विषय को ही ग्रहण कर सकती है । अत्यन्त संयुक्त काजल आदि का ज्ञान नहीं कर सकती । अन्यथा इनका भी ज्ञान होने लगेगा ।

प्रश्न :- स्पर्शनेन्द्रिय की मोटाई उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है तो शरीर पर लगे हुए तलवार आदि के घाव की वेदना जो भीतर तक होती है, वह किस प्रकार घटित होगी ?

उत्तर :- यह प्रश्न वस्तु स्वरूप का यथार्थ ज्ञान न होने के कारण ही उठा है । अन्यथा नहीं उठता । वस्तुतः स्पर्शनेन्द्रिय का विषय शीत, उष्ण आदि स्पर्श है, न कि वेदना का अनुभव । तलवार के घात से भीतर शरीर में जो वेदना होती है, वह शीतादि स्पर्शजन्य नहीं है, जो कि स्पर्शनेन्द्रिय से ग्राह्य हो । वह दुःखानुभव रूप है, जिसे आत्मा अपनी समग्र चेतना से अनुभव करता है । किसी भी शारीरिक वेदना को जीव अपनी समग्र चेतना से ही अनुभव करता है । यही कारण है कि शरीर के किसी एक अंग में पीड़ा होने पर सम्पूर्ण शरीर में पीड़ा का अनुभव होता है ।

प्रश्न :- शीतल पेय-पदार्थ का पान करते समय भीतर जो शीतलता का अनुभव होता है, वह कैसे घटेगा ?

उत्तर :- स्पर्शनेन्द्रिय की मोटाई पूर्वोक्त है, किंतु शीतलता के अनुभव का कारण अन्य है । केवल बाह्य चमड़ी ही स्पर्शनेन्द्रिय नहीं कहलाती किन्तु शरीर के भीतर की चमड़ी भी स्पर्शेन्द्रिय कहलाती है । स्पर्शेन्द्रिय शरीरव्यापी है । यही कारण है कि शीतल जलादि पीते समय भीतर में शीतलता का अनुभव होता है ।

24 दंड़कों में से, 5 स्थावर-1 इन्द्रिय (स्पर्शनेन्द्रिय)

3 विकलेन्द्रिय (2, 3 व 4) : द्वीन्द्रिय को दो, त्रीन्द्रिय को तीन, चतुरिन्द्रिय को चार ।

16 दंड़क, 13 देव, 1 नारक, 1 मनुष्य और 1 गर्भज तिर्यंच को पांच इन्द्रियाँ (स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र)

समुद्घात द्वार

`समुद्घात' शब्द `सम्-उत्-घात' इन तीन शब्दों का जोड़ है । सम्=एक, उत्=प्रबलता, घात=निर्जरा । एकरूपता के कारण प्रबलता से निर्जरा करना समुद्घात है ।

प्रश्न : एकरूपता किसकी किसके साथ होती है ?

उत्तर : वेदना, कषाय आदि के साथ आत्मा की एकरूपता होती है । अर्थात् जब आत्मा वेदना समुद्घात, कषाय समुद्घात आदि करता है तब वेदना और कषाय की अनुभूति के सिवाय अन्य सारी अनुभूतियाँ समाप्त हो जाती हैं । दूसरे शब्दों में कहें तो आत्मा उस समय वेदनामय व कषायमय हो जाती है ।

प्रश्न : प्रबलतापूर्वक घात-निर्जरा कैसे होती है ?

उत्तर : वेदना आदि समुद्घात में परिणत हुआ जीव, कालान्तर में भोगने योग्य वेदनीय आदि कर्मों के विपुल प्रदेशों को उदीरणा द्वारा खींचकर, उदय में लाकर भोगकर क्षय करता है अर्थात् आत्मप्रदेशों के साथ एकमेक बने कर्म पुद्गलों को अलग करना समुद्घात है ।

स्वाभाविक रूप में कर्मों का उदय में आना और भोगना, यह कर्मयोग की सहज प्रक्रिया है, किन्तु प्रयासपूर्वक अनुदित कर्मों का उदीरणा द्वारा उदय में लाकर भोगना समुद्घात है । वेदना, कषाय आदि का उदय कभी-कभी इतना प्रबल होता है कि उन्हें सहजरूप में भोगना जीव के लिए अशक्य हो जाता है । ऐसी स्थिति में आत्मा अपनी शक्ति से वेदनादि के पुद्गलों को उदीरणा द्वारा खींचकर अतिशीघ्र भोगकर क्षय कर देती है । कर्मों के निर्जरण की यह प्रक्रिया समुद्घात कहलाती है । जैसे किसी पक्षी के पंख पर बहुत धूल चढ़ जाती है, तब वह पक्षी अपने पंख फैलाकर जोर से फड़फड़ाकर धूल को झाड़ देता है । इसी प्रकार आत्मा बद्धकर्म पुद्गल को झाड़ने (निर्जरित करने) के लिए समुद्घात नामक क्रिया करता है ।

1) वेदना समुद्घात :- वेदना द्वारा कर्म-दलिकों का हनन वेदनीय समुद्घात है । असह्य वेदना से व्याकुल जीव अपनी शक्ति द्वारा अनंतानंत कर्मस्कंधों से युक्त अपने आत्म-प्रदेशों को शरीर से बाहर निकालकर उनसे मुख, पेट, कान, स्कंध आदि के छिद्रों को भरकर शरीर की लम्बाई और चौड़ाई में आत्मप्रदेशों को व्याप्त कर देता है । इससे जीव बहुत से अशाता वेदनीय कर्म के दलिकों को भोगकर क्षीण कर देता है । यह प्रक्रिया अन्तर्मुहूर्त तक चलती है । तत्पश्चात् जीवात्मा पुनः शरीरस्थ हो जाती है । इस क्रिया का नाम वेदना समुद्घात है ।

2) कषाय समुद्घात :- कषाय द्वारा कर्म-दलिकों का हनन कषाय समुद्घात है । तीव्र कषाय के उदय से व्याकुल जीव अपनी शक्ति द्वारा अनन्तानन्त कर्म-प्रदेशों से अनुविद्ध अपने आत्म-प्रदेशों को बाहर निकालकर उनसे मुख, पेट, कान, स्कंध आदि के छिद्रों को भरकर शरीर की लम्बाई और चौड़ाई में आत्मप्रदेशों को व्याप्त कर देता है । इससे जीव बहुत से कषाय मोहनीयकर्म के दलिकों को भोगकर क्षीण कर देता है । यह प्रक्रिया अन्तर्मुहूर्त तक चलती है, तत्पश्चात् जीवात्मा पुनः शरीरस्थ हो जाता है । यह क्रिया कषाय समुद्घात है ।

3) मरण समुद्घात :- मृत्यु के समय जीव के प्रयास द्वारा आयुष्य कर्म के दलिकों का हनन करना, मरण समुद्घात है । मृत्यु के अंतिम समय में व्याकुल बनी आत्मा अन्तर्मुहूर्त पहले ही अपने आत्म-प्रदेशों को शरीर से बाहर निकालकर उनसे मुख, पेट, कान, स्कंध आदि के छिद्रों को भरकर अपने उत्पत्ति-स्थान तक लम्बा (जघन्य से अंगुल के असंख्यातवें भाग जितना और उत्कृष्ट से असंख्याता योजन लम्बा) और देह-प्रमाण स्थूल दंड़ की रचना करती है । अन्तर्मुहूर्त तक इसी स्थिति में रहकर आयुष्य-कर्म के बहुत से पुद्गलों को उदीरणा द्वारा उदय में लाकर घात करती है । यह प्रक्रिया मरण समुद्घात है ।

4) वैक्रिय समुद्घात :- वैक्रिय शरीर के प्रारम्भ काल में पूर्वबद्ध वैक्रिय के स्थूल पुद्गलों का घात करना वैक्रिय समुद्घात है । वैक्रिय लब्धि सम्पन्न आत्मा वैक्रिय शरीर बनाते समय सर्वप्रथम अपने आत्मप्रदेशों को शरीर से बाहर निकालकर उनसे स्वदेह प्रमाण स्थूल एवं संख्येय योजन प्रमाण दीर्घ

दण्ड़ बनाता है । उस समय जीव पूर्वबद्ध वैक्रिय के पुद्गलों को उदीरणा द्वारा उदय में लाकर घात करता है और नये वैक्रिय-पुद्गलों को ग्रहण करते हुए उत्तर-देह की रचना करता है । यह वैक्रिय समुद्घात है ।

5) तैजस समुद्घात :- तेजो-लेश्या की लब्धि से सम्पन्न आत्मा जब किसी के प्रति क्रुद्ध बनती है, तो सात-आठ कदम पीछे हटकर अपने आत्म-प्रदेशों को बाहर निकालकर स्वदेह प्रमाण-स्थूल और जिस स्थान में तेजो-लेश्या (शीत-लेश्या) ड़ालनी है, वहाँ तक लम्बा (संख्यात-योजन दीर्घ) दंड़ बनाती है । इससे उसके क्रोध का लक्ष्य बनी वस्तु या व्यक्ति भस्म हो जाता है । इस प्रकार तैजस् शरीर के बहुत से पुद्गलों का क्षय करता है । इसे तैजस् समुद्घात कहते हैं ।

6) आहारक समुद्घात :- आहारक शरीर के प्रारम्भ काल में जो होता है वह आहारक समुद्घात है । आहारक लब्धि-सम्पन्न-आत्मा आहारक शरीर बनाते समय सर्वप्रथम अपने आत्मप्रदेशों को शरीर से बाहर निकालकर उनका स्वदेह-प्रमाण स्थूल एवं संख्येय योजन प्रमाण दीर्घ दंड़ बनाती है । उससे पूर्वबद्ध आहारक के पुद्गलों को उदीरणा द्वारा उदय में लाकर घात करती है, यह आहारक समुद्घात है । नये आहारक पुद्गलों को ग्रहण कर आहारक शरीर बनाती है । इस शरीर की रचना आहारक लब्धि-सम्पन्न चौदह पूर्वधर मुनि ही करते हैं ।

7) केवली समुद्घात :- जिन केवलज्ञानी परमात्मा का आयुष्य मात्र अन्तर्मुहूर्त प्रमाण रह गया है और नाम, गोत्र व वेदनीय कर्म की स्थिति अधिक है उन्हें इन तीनों कर्मों की स्थिति को आयुतुल्य करने के लिए केवली समुद्घात करना पड़ता है । समुद्घात करने वाले केवली भगवंत सर्वप्रथम अपने आत्म-प्रदेशों को बाहर निकालकर शरीर प्रमाण स्थूल और नीचे से ऊपर चौदह राजलोक प्रमाण दीर्घदंड़ बनाते हैं । दूसरे समय में स्वदेह प्रमाण मोटा तथा उत्तर-दक्षिण में लोक के अन्त भाग तक लम्बा कपाट बनाते हैं । तीसरे समय में ऐसा ही एक कपाट (–) पूर्व-पश्चिम में लोक के अन्त तक लम्बा बनाते हैं । उस समय आत्म-प्रदेशों की स्थिति मन्थनी (+) की तरह हो जाती है । चौथे समय में मन्थनी के बीच का रिक्त स्थान भरते हैं । उस समय सम्पूर्ण चौदह राजलोक आत्म-प्रदेशों से व्याप्त बन जाता है । तत्पश्चात्

पाँचवें समय में मन्थनी के अन्तरों मे भरे गये आत्म प्रदेशों का संकोच करते हैं । छठे समय में मन्थनी के आकार का संहरणकर कपाट रूप शेष रखते हैं । सातवें समय में कपाट का भी संहरण कर दंड़ाकार शेष रखते हैं । आठवें समय में दंड़ का भी संहरणकर सभी आत्मप्रदेशों को पुनः शरीरस्थ कर लेते हैं । इस प्रकार आठ समय का केवली समुद्घात करके आयु की अपेक्षा अधिक स्थिति वाले वेदनीय, नाम और गोत्र कर्म की निर्जरा करते हैं ।

समुद्घात का काल प्रमाण :- वेदना, कषाय, मरण, वैक्रिय, तैजस और आहारक समुद्घात का काल प्रमाण अन्तर्मुहूर्त्त का है ।

केवली समुद्घात आठ समय का है ।

केवली समुद्घात में योग :- योग=मन, वचन और काया की प्रवृत्ति । केवली समुद्घात गत जीव के मात्र काययोग ही होता है । मनोयोग और वचनयोग का उस समय कोई प्रयोजन नहीं है ।

पहले एवं आठवें समय में-औदारिक काययोग होता है । क्योंकि पहले और आठवें समय में समुद्घात का प्रारम्भ एवं अन्त होने से औदारिक काययोग की ही प्रधानता रहती है ।

दूसरे, छठे, सातवें समय में-इनमें औदारिक मिश्र की प्रधानता है । क्योंकि उस समय औदारिक और कार्मण दोनों का सम्मिलित प्रयास होने से औदारिक मिश्र का व्यापार होता है ।

तीसरे, चोथें, पांचवें समय में-इस समय औदारिक से बाहर केवल कार्मण काययोग का ही मुख्य रूप से व्यापार होता है । यही कारण है कि केवली समुद्घात के तीसरे, चोथें, पांचवें समय में जीव अनाहारी होता है तथा जो अनाहारी होता है, वह निश्चित रूप से कार्मण योगी होता है ।

जीवों में समुदघात :-

1) मनुष्य में=पूर्वोक्त 7 समुदघात
2) एकेन्द्रिय में=5 समुद्घात (वेदना, कषाय, मरण, तैजस और वैक्रिय)
3) विकलेन्द्रिय में=4 समुद्घात (वेदना, कषाय, मरण, तैजस)
4) असंज्ञी पंचेन्द्रिय में=4 समुद्घात (वेदना, कषाय, मरण, तैजस)

एकेन्द्रिय में पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय और वनस्पतिकाय में वेदना, कषाय और मरण ये तीन समुदघात होते हैं, जबकि वायुकाय में इन तीनों के अलावा वैक्रिय समुद्घात भी होता है ।

विकलेन्द्रिय जीवों को भी वेदना, कषाय और मरण ये तीन समुद्घात होते हैं ।

संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को सातों समुद्घात होते हैं ।

12. समुद्घात द्वार चालू एवं 10वाँ दृष्टिद्वार

पण गब्भ तिरि सुरेसु नारय वाउसु चउर तिय सेसे ।
विगल दु दिट्ठि थावर, मिच्छत्ति सेस तिय दिट्ठी ।।18।।

शब्दार्थ

पण=पाँच	**विगल=**विकलेन्द्रिय में
गब्भतिरि=गर्भज तिर्यंच	**दु=**दो
सुरेसु=देवों में	**दिट्ठि=**दृष्टि
नारय=नारक	**थावर=**स्थावर
वाउसु=वायुकाय में	**मिच्छत्ति=**मिथ्यात्व
चउर=चार	**सेस=**बाकी में
तिय=तीन	**तिय=**तीन
सेसे=शेष में	**दिट्ठी=**दृष्टि ।।18।।

गाथार्थ :- गर्भज तिर्यंच और देवताओं को पांच, नारक और वायुकाय को चार तथा शेष दंड़कों में तीन समुद्घात होते हैं ।

विकलेन्द्रिय जीवों को दो दृष्टि, स्थावर जीवों को मिथ्यात्व नाम की एक दृष्टि और शेष दंड़कों में तीनों दृष्टि होती है ।

विवेचन :- 24 दंड़कों में से गर्भज तिर्यंचों को आहारक समुद्घात और केवली समुद्घात को छोड़ शेष पांच समुद्घात होते हैं ।

तिर्यंच जीवों को चारित्र का अभाव होने से तथा पूर्वों के ज्ञान का भी अभाव होने से उन्हें आहारक लब्धि नहीं होती है तथा केवलज्ञान का अभाव होने से केवली समुद्घात नहीं होता है, परंतु कुछ तिर्यंचों को वैक्रिय लब्धि व तैजस लब्धि हो सकती है, इस कारण उनमें वैक्रिय समुद्घात और तैजस समुद्घात भी हो सकता है ।

देवताओं में वैक्रिय लब्धि और तैजस लब्धि साधना के फलस्वरूप नहीं, बल्कि देवभव के कारण ही होती हैं । अतः देवताओं में पाँच समुद्घात होते हैं ।

नारक तथा वायुकाय में वेदना, कषाय, मरण और वैक्रिय ये चार समुद्घात होते हैं ।

नारक जीवों को वैक्रिय लब्धि भव के कारण ही होती है ।

कुछ पर्याप्त वायुकाय जीवों को भी वैक्रिय लब्धि होती है ।

24 दंड़कों में 7 समुद्घात	
1 गर्भज मनुष्य	7 समुद्घात
1 गर्भज तिर्यंच	5 समुद्घात
13 देव दंड़क	5 समुद्घात
1 नारक	4 समुद्घात
1 वायुकाय	4 समुद्घात
शेष 7 दंड़क	3 समुद्घात

3 दृष्टि

दृष्टि अर्थात् पदार्थ को देखने का दृष्टिकोण । जगत् में रहे पदार्थों को हर व्यक्ति एक ही दृष्टि से नहीं देखता है । इस दृष्टि के तीन भेद हैं ।

1. मिथ्यादृष्टि :- यह दृष्टि जिसके पास होती है, वह व्यक्ति पदार्थ को विपरीत रूप से देखता है । जो पदार्थ जिस रूप हो, उससे उल्टा देखना मिथ्यादृष्टि है । मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का जब तक उदय रहता है, तब तक आत्मा में यह मिथ्यादृष्टि होती है ।

2. सम्यग्दृष्टि :- पदार्थ जिस रूप में हो उसे उसी रूप में देखना, उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं । मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से आत्मा में यह दृष्टि पैदा होती है । सम्यग्दृष्टि जीव किसी भी पदार्थ को सही रूप से देखता है ।

3. मिश्रदृष्टि :- कुछ सत्य, कुछ असत्य के मिश्रण को मिश्र दृष्टि कहते हैं । मिश्र मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा में मिश्रदृष्टि पैदा होती है । इस कर्म के उदय से आत्मा में जिनेश्वर भगवंत प्ररूपित तत्त्वों के ऊपर न तो तीव्र रुचि होती है और न ही तीव्र अरुचि होती है ।

24 दंड़कों में से विकलेन्द्रिय के तीन दंडक अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों को मिथ्यात्व और सम्यक्त्व ये दो दृष्टि होती हैं । सास्वादन सम्यक्त्व वाला कोई जीव जब मरकर विकलेन्द्रिय में पैदा होता है, तब अपर्याप्त अवस्था में सास्वादन सम्यक्त्व वाला होने से उसे सम्यक्त्व कहा है परंतु पर्याप्त अवस्था में तो सिर्फ मिथ्यादृष्टि ही होती है ।

स्थावर के पाँच दंड़कों में सिर्फ एक मिथ्यादृष्टि ही होती है ।

शेष 16 दंड़कों में ये तीनों दृष्टियाँ होती हैं ।

दंडक	दृष्टि
3 विकलेन्द्रिय	2
5 स्थावर	1
शेष 16	3

13. 11 वाँ दर्शन द्वार

थावर बि तिसु अचक्खु, चउरिंदिसु तद्दुगं सुए भणियं ।
मणुआ चउ दंसणिणो, सेसेसु तिगं तिगं भणियं ।।19।।

शब्दार्थ

थावर=स्थावर
बि तिसु=द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय के
अचक्खु=अचक्षु दर्शन
तद्=वह
दुगं=दो
सुए=श्रुत में
भणियं=कहा गया है
मणुआ=मनुष्य
चउदंसणिणो=चार दर्शनवाले
सेसेसु=शेष में
तिगंतिगं=तीन तीन
भणियं=कहे गए हैं ।।19।।

गाथार्थ :- सिद्धांत में स्थावर, द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय को सिर्फ एक अचक्षुदर्शन तथा चतुरिन्द्रिय को दो दर्शन कहे हैं । मनुष्य के चार दर्शन हैं, शेष दंड़कों में तीन-तीन दर्शन कहे हैं ।

विवेचन :- प्रत्येक पदार्थ में दो प्रकार के धर्म रहे हुए हैं । सामान्य धर्म

और विशेष धर्म । सामान्य धर्म के बोध को दर्शन कहते हैं और विशेष धर्म के बोध को ज्ञान कहते हैं ।

दर्शन के चार भेद :-

1) चक्षुदर्शन :- आँख द्वारा होनेवाले पदार्थ के सामान्य बोध को चक्षु-दर्शन कहते है ।

2) अचक्षुदर्शन :- आँख सिवाय अन्य इन्द्रियों के द्वारा होनेवाले पदार्थ के बोध को अचक्षुदर्शन कहते हैं ।

3) अवधिदर्शन :- अवधिज्ञान द्वारा जानने योग्य पदार्थों में रहे सामान्य बोध को अवधि दर्शन कहते हैं ।

4) केवलदर्शन :- जगत् में रहे सभी पदार्थों में रहे सामान्य धर्म का बोध जिससे होता है, उसे केवलदर्शन कहते हैं ।

24 दंड़कों में से पाँच स्थावर तथा द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय रूप इन 7 दंड़कों में सिर्फ अचक्षु दर्शन ही होता है, क्योंकि इनमें आंख का अभाव होने से चक्षुदर्शन का भी अभाव होता है ।

स्पर्शन, रसन, घ्राण, श्रोत्र और मन इन पाँच भेदों से अचक्षुदर्शन पाँच प्रकार का होता है, इनमें 5 स्थावर में स्पर्शन इन्द्रिय के सामान्य उपयोग रूप अचक्षु दर्शन होता है । द्वीन्द्रिय में स्पर्शन व रसना रूप दो इन्द्रियोंवाला सामान्य उपयोग होता है तथा त्रीन्द्रिय में स्पर्शन, रसना और घ्राणरूप तीन इन्द्रियों के सामान्य उपयोग रूप अचक्षु दर्शन होता है ।

चतुरिन्द्रिय जीवों में चक्षु और अचक्षुदर्शन रूप दो दर्शन होते हैं । चतुरिन्द्रिय जीवों को चक्षु होने से चक्षुदर्शन भी होता है ।

गर्भज मनुष्यों में चारों दर्शन होते हैं । पाँचों इन्द्रियाँ और मन होने से चक्षु व अचक्षु दर्शन दोनों होते हैं तथा चारित्र गुण के कारण लब्धि प्रत्ययिक अवधिज्ञानी को अवधिदर्शन भी होता है और केवली भगवंत को केवल दर्शन भी होता है ।

शेष 15 दंड़कों (13 देव संबंधी, 1 नारक और 1 गर्भज तिर्यंच) में चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन और अवधिदर्शन रूप तीन दर्शन होते हैं ।

गर्भज तिर्यंचों में देशविरति होने से व्रत-तपश्चर्यादि के गुण से लब्धि प्रत्ययिक अवधिदर्शन होता है, और देव के 13 व नारक के 1 कुल 14 दंड़कों में भव प्रत्ययिक अवधिज्ञान होने से वहाँ भी अवधिदर्शन होता है ।

एक जीव को एक काल में एक साथ एक, दो या तीन दर्शन हो सकते हैं, परंतु चार दर्शन नहीं होते हैं ।

सिर्फ अचक्षुदर्शन या केवलदर्शन हो तो एक दर्शन होता है ।

किसी को चक्षु और अचक्षु दो दर्शन हो सकते हैं, किसी को चक्षु, अचक्षु व अवधि ये तीन दर्शन हो सकते हैं ।

24 दंड़कों में 4 दर्शन	
5 दंड़क-स्थावर-	1 अचक्षुदर्शन
1 दंड़क-द्वीन्द्रिय-	1 अचक्षुदर्शन
1 दंड़क-त्रीन्द्रिय-	1 अचक्षुदर्शन
1 दंड़क-चतुरिन्द्रिय-	2 चक्षु-अचक्षुदर्शन
1 दंड़क-गर्भज मनुष्य-	4 दर्शन
शेष 15 में	3 दर्शन (केवलदर्शन छोड़कर)

14. 12 वाँ ज्ञान द्वार-13 वाँ अज्ञान द्वार

अन्नाण नाण तिय तिय, सुरतिरिनिरए थिरे अनाणदुगं ।
नाणन्नाण दु विगले, मणुए पण नाण ति अनाणा ।।20।।

शब्दार्थ

अन्नाण=अज्ञान	**नाणन्नाण=**ज्ञान, अज्ञान
नाण=ज्ञान	**दु=**दो
तिय=तीन	**विगले=**विकलेन्द्रिय में
सुरतिरिनिरए=देव, तिर्यंच, नरक में	**मणुए=**मनुष्य में
थिरे=स्थावर में	**पण-नाण=**पाँच ज्ञान
अनाणदुगं=दो अज्ञान	**ति अनाणा=**तीन अज्ञान ।।20।।

गाथार्थ :- देव, तिर्यंच और नारक में तीन अज्ञान और तीन ज्ञान, स्थावर में दो अज्ञान, विकलेन्द्रिय में दो ज्ञान तथा दो अज्ञान तथा मनुष्य में पांच ज्ञान और तीन अज्ञान होते हैं ।

विवेचन :- जिसके द्वारा पदार्थ में रहे विशेष धर्म का बोध हो उसे ज्ञान कहते हैं । ज्ञान के मुख्य 5 भेद हैं–

1. मतिज्ञान :- मन और इन्द्रियों की सहायता से पदार्थ में रहे विशेष धर्म का बोध जिसके द्वारा हो उसे मतिज्ञान कहते हैं । मतिज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से मतिज्ञान होता है । इसे आभिनिबोधिक ज्ञान भी कहा जाता है ।

2. श्रुतज्ञान :- शास्त्र या शब्द के श्रवण के बाद शब्द के पर्यालोचन से पदार्थ का जो बोध होता है, उसे श्रुतज्ञान कहते हैं ।

जैसे-कान से `घट' शब्द सुनने पर मात्र `घट' शब्द का जो ज्ञान हुआ, वह मतिज्ञान कहलाता है और `घट' शब्द सुनने के बाद `जलधारण' की क्रिया करनेवाले अमुक आकार वाले पदार्थ को `घट' कहा जाता है, इस प्रकार घट शब्द से वाच्य `घट' पदार्थ का जो बोध होता है, उसे श्रुतज्ञान कहा जाता है ।

मतिज्ञान व श्रुतज्ञान में अंतर : यद्यपि मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों में इन्द्रिय व मन की सहायता रहती है, फिर भी उन दोनों के बीच काफी अंतर है ।

मतिज्ञान कारण है, जबकि श्रुतज्ञान कार्य है ।

मतिज्ञान सिर्फ वर्तमानकालग्राही है अर्थात् सिर्फ विद्यमान वस्तु में ही प्रवृत्त होता है, जबकि श्रुतज्ञान भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों विषयों में प्रवृत्त होता है ।

मतिज्ञान मूक है, जबकि श्रुतज्ञान वाचाल है । मतिज्ञान में शब्द का विचार नहीं होता है, जबकि श्रुतज्ञान में शब्द के अर्थ का चिंतन होता है ।

श्रुतज्ञान के बिना भी सिर्फ मतिज्ञान हो सकता है, जबकि मतिज्ञान के बिना श्रुतज्ञान नहीं होता है ।

3. अवधिज्ञान :- मन और इन्द्रियों की अपेक्षा नहीं रखते हुए सिर्फ आत्मा द्वारा रूपी द्रव्यों का जो बोध होता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं ।

4. मनःपर्यव ज्ञान :- मन और इन्द्रियों की सहायता बिना ढाई द्वीप में रहे हुए संज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणियों के मनोगत विचारों को जिस ज्ञान से जाना जाता है, उसे मनःपर्यव ज्ञान कहते है ।

संज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणी जब किसी भी वस्तु का विचार करता है, तब वह अपने काय योग द्वारा आकाश प्रदेश में रहे मनोवर्गणा के पुद्गलों को अपनी ओर खींचकर उन पुद्गलों को चिंतनीय वस्तु के अनुरूप परिणत करता है । किसी आकार में परिणत हुए उन पुद्गल द्रव्यों को मनःपर्यवज्ञानी स्पष्ट रूप से देख सकता है ।

संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव जिस वस्तु संबंधी विचार करता है, उस वस्तु के आकार में परिणत मनोद्रव्य को ही मनःपर्यवज्ञानी प्रत्यक्ष जान सकता है, परंतु वस्तु को नहीं । वस्तु का ज्ञान तो अनुमान से होता है ।

अवधिज्ञान व मनःपर्यवज्ञान में अंतर : अवधिज्ञानी रूपी द्रव्यों को स्पष्ट जानता है, जबकि मनःपर्यवज्ञानी मनोद्रव्य को स्पष्ट जानता है ।

◆ अंगुल के असंख्यातवें भाग से लेकर चौदह राजलोक में रहे सभी रूपी द्रव्यों का बोध अवधिज्ञान से हो सकता है, जबकि मनःपर्यवज्ञान से सिर्फ ढाई द्वीप में रहे संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को ही जान सकते हैं ।

◆ अवधिज्ञान चारों गति के जीवों को हो सकता है, जबकि मनःपर्यवज्ञान सिर्फ अप्रमत्तसंयत मुनियों को ही होता है ।

◆ अवधिज्ञान परभव में भी साथ में चल सकता है, जबकि मनः पर्यवज्ञान एक भव में ही रहता है ।

◆ मिथ्यात्व का उदय होने पर अवधिज्ञान, विभंगज्ञान में बदल जाता है, जबकि मनःपर्यवज्ञान कभी बदलता नहीं है ।

मनोद्रव्य रूपी होने से विशुद्ध अवधिज्ञान से मन के विचारों को भी जाना जा सकता है । तीर्थंकर भगवान द्रव्य मन से जो जवाब देते हैं, उन्हें अनुत्तर विमानवासी देव अवधिज्ञान से जान सकते हैं ।

5. केवलज्ञान :- जगत् में रहे सभी ज्ञेय रूपी-अरूपी पदार्थों के भूत, भविष्य और वर्तमान के समस्त पर्यायों को एक साथ में जिस ज्ञान द्वारा जाना जाता है, उसे केवलज्ञान कहते हैं । इस ज्ञान में इन्द्रियों व मन की अपेक्षा नहीं होती है, अर्थात् यह आत्म-प्रत्यक्ष ज्ञान है ।

पाँच ज्ञान में क्रम के हेतु :-

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यव और केवलज्ञान इस प्रकार ज्ञान के जो पांच भेद बतलाए गए हैं, उनके क्रम में निम्न कारण हैं–

मतिज्ञान व श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान हैं, जबकि अवधिज्ञान आदि तीन प्रत्यक्ष-ज्ञान हैं । परोक्ष से प्रत्यक्ष ज्ञान श्रेष्ठ होने से पहले परोक्ष ज्ञान बतलाकर फिर प्रत्यक्ष ज्ञान का वर्णन किया गया है ।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के स्वामी एक ही हैं । जिसे मतिज्ञान होता है, उसे श्रुतज्ञान और जिसे श्रुतज्ञान होता है, उसे मतिज्ञान अवश्य होता है ।

◆ मति व श्रुत दोनों ज्ञान का उत्कृष्ट स्थिति काल 66 सागरोपम है ।

◆ दोनों ज्ञान में इन्द्रिय व मन की अपेक्षा होने से कारण की समानता है ।

◆ दोनों ज्ञान सर्व द्रव्य-विषयक होने से विषय की समानता है । मतिज्ञान और श्रुतज्ञान सहचारी होने पर भी मतिज्ञान कारण है और श्रुतज्ञान कार्य है क्योंकि अवग्रह आदि मतिज्ञान के बिना श्रुतज्ञान नहीं होता है ।

◆ श्रुतज्ञान के साथ काल, विपर्यय, स्वामी व लाभ की समानता होने से श्रुत के बाद अवधिज्ञान का क्रम है ।

◆ श्रुतज्ञान की तरह अवधिज्ञान की काल मर्यादा भी 66 सागरोपम की है ।

◆ मिथ्यात्व के उदय से मतिज्ञान व श्रुतज्ञान, मति-अज्ञान व श्रुत-अज्ञान में परिणत हो जाता है, उसी प्रकार अवधिज्ञान भी विभंग ज्ञान में बदल जाता है ।

◆ जिसे मतिज्ञान व श्रुतज्ञान होता है, उसी को अवधिज्ञान होता है, अतः स्वामी की समानता है ।

मिथ्यादृष्टि देव को सम्यग् दर्शन की प्राप्ति के साथ मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान तीनों एक साथ पैदा होते हैं, अतः लाभ की भी समानता है ।

24 दंड़क में ज्ञान-अज्ञान

देव के 13 दंड़क, नारक का 1 दंड़क और गर्भज तिर्यंच का 1 दंड़क इस प्रकार कुल 15 दंड़कों में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान रूप तीन ज्ञान तथा मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान और विभंगज्ञान रूप तीन अज्ञान होते हैं ।

ये सभी सम्यग्दृष्टि हों तो तीन ज्ञान होते है और मिथ्यादृष्टि हों तो उन्हें तीन अज्ञान होते हैं ।

एक साथ में एक जीव की अपेक्षा से अवधिज्ञान सहित तीन ज्ञान अथवा अवधिज्ञान रहित दो ज्ञान होते हैं ।

जो सम्यग्दृष्टि जीव है उसे मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों ज्ञान साथ में होते हैं तथा जो मिथ्यादृष्टि है, उन्हें मति अज्ञान और श्रुत अज्ञान ये दोनों अज्ञान एक साथ में होते हैं ।

देव व नारक यदि सम्यग्दृष्टि न हो तो उन्हें विभंग ज्ञान होता है ।

स्थावर के 5 दंड़कों में एक समय में एक साथ मति अज्ञान और श्रुत अज्ञान ये दो अज्ञान होते हैं ।

विकलेन्द्रिय के तीन दंड़क में दो ज्ञान और दो अज्ञान होते हैं । पूर्व भव में किसी सम्यग्दृष्टि जीव ने मरण के एक अन्तर्मुहूर्त पहले उपशम सम्यक्त्व प्राप्त किया हो और फिर सम्यक्त्व से पतित होकर सास्वादन सम्यक्त्व सहित मृत्यु पाकर विकलेन्द्रिय में उत्पन्न हुआ हो तो, विकलेन्द्रिय की अपर्याप्त अवस्था में सास्वादन सम्यक्त्व होता है, उस सम्यक्त्व की अपेक्षा से विकलेन्द्रिय को अपर्याप्त अवस्था में दो ज्ञानवाला कहा है, उसके बाद संपूर्ण भव पर्यंत मिथ्यादृष्टि होने से दो अज्ञानवाला माना गया है ।

गर्भज मनुष्य के 1 दंड़क में पांच ज्ञान और तीन अज्ञान होते हैं ।

◆ **एक मनुष्य को एक साथ में एक, दो, तीन और चार ज्ञान हो सकते हैं, परंतु पाँच ज्ञान एक साथ नहीं होते हैं ।**

एक ज्ञान हो तो केवलज्ञान
दो ज्ञान हों तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञान
तीन ज्ञान हों तो मतिज्ञान, श्रुत और अवधिज्ञान, अथवा
तीन ज्ञान हों तो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और मनःपर्यवज्ञान
चार ज्ञान हों तो मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यवज्ञान

24 दंड़क में 5 ज्ञान व 3 अज्ञान	
13 देव दंड़क में	3 ज्ञान, 3 अज्ञान
1 गर्भज तिर्यंच में	3 ज्ञान, 3 अज्ञान
1 नारक में	3 ज्ञान, 3 अज्ञान
5 स्थावर में	2 अज्ञान
3 विकलेन्द्रिय में	2 ज्ञान और 2 अज्ञान
1 गर्भज मनुष्य में	5 ज्ञान और 3 अज्ञान

15. 14 वाँ योग द्वार

सच्चेअर मीस असच्च-मोस मणवय विउव्वि आहारे ।
उरलं मीसा कम्मण, इय जोगा देसिया समए ।।21।।

शब्दार्थ

सच्च=सत्य	**मीसा=**मिश्रयोग
इअर=इतर (असत्य)	**इय=**ये
मीस=मिश्र	**जोगा=**पंद्रह योग
असच्चमोस=असत्यामृषा (व्यवहार)	**देसिया=**कहे हैं
उरलं=औदारिक	**समए=**सिद्धांत में ।।21।।

गाथार्थ:- सत्य, असत्य, मिश्र और असत्य-अमृषा, मन और वचन, वैक्रिय, आहारक, औदारिक, मिश्र और कार्मण; इस प्रकार सिद्धांत में योग कहे हैं ।

इक्कारस सुरनिरए, तिरिएसु तेर पन्नर मणुएसु ।
विगले चउ पण वाए, जोगतिगं थावरे होइ ।।22।।

शब्दार्थ

इक्कारस=ग्यारह	**विगले=**विकलेन्द्रिय में
सुरनिरए=देव और नारक में	**चउ=**चार
तिरिएसु=तिर्यंच गति में	**पण=**पाँच
तेर=तेरह	**वाए=**वायुकाय में
पन्नर=पंद्रह	**जोगतिगं=**तीन योग
मणुएसु=मनुष्य में	**थावरे होइ=**स्थावर में होते है ।।22।।

गाथार्थ :- देव-नारक में ग्यारह, तिर्यंच में तेरह, मनुष्य में पंद्रह, विकलेन्द्रिय में चार, वायुकाय में पांच और स्थावर में तीन योग होते हैं ।

विवेचन :– योग अर्थात् आत्मप्रदेशों में होनेवाला स्पंदन । पुद्गल के संबंध के कारण आत्मप्रदेशों में हलन-चलन होता रहता है ।

मनोयोग के योग्य वर्गणा से बने मन की सहायता से जो स्फुरण होता है, उसे **मनोयोग** कहते हैं ।

वचन योग के योग्य वर्गणा के पुद्गलों से बने वचन की सहायता से जो स्फुरण होता है, उसे **वचनयोग** कहते हैं ।

शरीर के योग्य वर्गणा से बने शरीर के लिए जो स्फुरण होता है, उसे **काययोग** कहते हैं ।

दूसरे शब्दों में किसी भी विषय का चिंतन करना उसे **मनोयोग** कहते है ।

किसी भी विषय की बातचीत करना उसे **वचनयोग** कहते हैं ।

हलन-चलन आदि शरीर संबंधी क्रिया को **काययोग** कहते हैं ।

मनोयोग के चार भेद

1. सत्य मनोयोग :- जिस वस्तु का जो स्वरूप हो अथवा जिस वस्तु में जो गुण, स्वभाव या धर्म हो, उसे उसी रूप में सोचना, उस समय मन का जो व्यापार होता है, उसे सत्य मनोयोग कहते हैं ।

2. असत्य मनोयोग :- सत्य विचार से विपरीत विचार करते समय आत्मा में जो मन का व्यापार होता है उसे असत्य मनोयोग कहते हैं ।

3. सत्य मृषा मनोयोग :- कुछ सत्य और कुछ असत्य विचार करते समय मन का जो व्यापार होता है, उसे सत्य मृषा मनोयोग कहते हैं ।

4. असत्य अमृषा मनोयोग :- जो विचार व्यावहारिक दृष्टि से सच्चा तथा झूठा न हो, वैसा विचार करते समय मन का जो व्यापार होता है, उसे असत्य अमृषा मनोयोग कहते हैं ।

दृष्टांत :-

1) वीतराग को सुदेव, निर्ग्रंथ साधु को सुगुरु और केवली प्ररूपित धर्म को सुधर्म के रूप में सोचना, यह सत्य मनोयोग है ।

2) जो वीतराग न हो उसे देव, जो गुरु न हो उसे गुरु और जो धर्म नहीं है, उसे धर्म के रूप में मानना, असत्य मनोयोग कहलाता है ।

3) जहाँ आम्र के वृक्ष ज्यादा हों और दूसरे वृक्ष कम हों उसे आम के वन के रुप में सोचना मिश्र मनोयोग कहलाता है ।

4) `आओ ! पधारो ! बैठो !' इत्यादि जो व्यवहार में वाक्य बोले जाते हैं, उनके बारे में सोचना असत्य अमृषा मनोयोग है ।

वचनयोग के 4 प्रकार :-

1. सत्य वचन योग :- जो वस्तु जिस रूप में है, उसे उस रूप में बोलना, उसे सत्य वचन योग कहते है ।

2. असत्य वचन योग :- जो वस्तु जिस स्वरूप में न हो उसे उस रूप में बोलना, उसे असत्य वचन योग कहते है ।

3. सत्य मृषा वचन योग :- थोड़ा सच बोलना और थोड़ा झूठ बोलना, उसे सत्यमृषा वचन योग कहते हैं ।

4. असत्य अमृषा वचन योग :- व्यावहारिक दृष्टि से जो सत्य भी न हो और असत्य भी न हो, उसे असत्य अमृषा वचन योग कहते हैं । जैसे- आगंतुक को कहना, आओ ! पधारो ! इत्यादि ।

काययोग के 7 प्रकार :-

1. औदारिक काययोग :- औदारिक शरीरधारी प्राणी के गमनागमन आदि क्रिया करते समय आत्मा में जो व्यापार होता है, उसे औदारिक काय-योग कहते हैं ।

2. औदारिक मिश्र काय योग :- औदारिक शरीर और कार्मण शरीर, औदारिक शरीर और वैक्रिय शरीर अथवा औदारिक शरीर और आहारक शरीर के मिश्रण वाली शरीर की चेष्टा के समय आत्मा में जो व्यापार होता है, उसे औदारिक मिश्रकाय योग कहते हैं ।

3. वैक्रिय काययोग :- गमनागमन आदि चेष्टा करते समय वैक्रिय शरीरधारी प्राणी का आत्मा में जो व्यापार होता है, उसे वैक्रिय काययोग कहते हैं ।

4. वैक्रिय मिश्र काययोग :- वैक्रिय शरीर और कार्मण शरीर अथवा वैक्रिय शरीर और औदारिक शरीर के मिश्रणवाले शरीरधारी के गमनागमन आदि चेष्टा करते समय आत्मा में जो व्यापार होता है, उसे वैक्रिय मिश्र काययोग कहते हैं।

5. आहारक काययोग :- आहारक शरीरधारी के गमनागमन आदि चेष्टा करते समय आत्मा में जो व्यापार होता है, उसे आहारक काययोग कहते हैं।

6. आहारक मिश्र काययोग :- औदारिक और आहारक शरीर के मिश्रण समय आत्मा में जो व्यापार होता है, उसे आहारक मिश्र काय योग कहते हैं।

7. कार्मण काययोग :- कार्मण व तैजस शरीर जब अकेला होता है, तब (विग्रहगति में) आत्मा में जो व्यापार होता है, उसे कार्मण काययोग कहते है।

24 दंड़कों में 15 योग :-

देव के 13 दंड़क तथा नारक के 1 दंड़क में चार मनोयोग, चार वचनयोग और तीन काययोग (वैक्रिय, वैक्रियमिश्र और कार्मण काययोग) ये 11 योग होते हैं।

गर्भज तिर्यंच में आहारक काययोग और आहारक मिश्र काययोग को छोड़कर कुल 13 योग होते हैं।

गर्भज मनुष्य के 1 दंडक में सभी-15 योग होते है।

विकलेन्द्रिय के 3 दंड़क में औदारिक, औदारिक मिश्र और कार्मण ये तीन काययोग तथा असत्य अमृषा नाम का 1 वचन योग मिलकर कुल 4 योग होते हैं।

वायुकाय के 1 दंड़क में औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रिय, वैक्रिय मिश्र और कार्मण ये पाँच काययोग होते हैं, क्योंकि कुछ बादर वायुकाय जीव वैक्रिय लब्धिवाले भी होते हैं।

स्थावर के 4 दंड़कों में औदारिक, औदारिक मिश्र और कार्मण ये तीन काययोग ही होते हैं।

24 दंड़कों में 15 योग	
13 देवदंड़क	11 योग
1 नारक	11 योग
1 गर्भज तिर्यंच	13 योग
1 गर्भज मनुष्य	15 योग
3 विकलेन्द्रिय	4 योग
1 वायुकाय	5 योग
4 स्थावर	3 योग

16. 15 वाँ उपयोग द्वार

ति अनाण नाण पण चउ, दंसण बार जिअलक्खणुवओगा ।
इय बारस उवओगा, भणिया तेलुक्कदंसीहिं ।।23।।
उवओगा मणुएसु, बारस नव निरय तिरिय देवेसु ।
विगलदुगे पण छक्कं, चउरिंदिसु थावरे तियगं ।।24।।

शब्दार्थ

ति=तीन	**जिअलक्खण**=जीव का लक्षण
अनाण=अज्ञान	**उवओगा**=उपयोग
नाण=ज्ञान	**इय**=इस प्रकार
पण=पाँच	**बारस**=बारह
चउ=चार	**उवओगा**=उपयोग
दंसण=दर्शन	**भणिया**=कहे हैं
बार=बारह	**तेलुक्कदंसीहिं**=त्रिलोकदर्शी ।।23।।

उवओगा=उपयोग	**विगलदुगे**=दो विकलेन्द्रिय में
मणुएसु=मनुष्य में	**पण**=पाँच
बारस=बारह	**छक्कं**=छह
नव=नौ	**चउरिंदिसु**=चतुरिन्द्रिय में
निरय=नरक	**थावरे**=स्थावर में
तिरिय=तिर्यंच में	**तियगं**=तीन
देवेसु=देवताओं में	।।24।।

गाथार्थ :- तीन अज्ञान, पाँच ज्ञान और चार दर्शन ये बारह जीव के लक्षण रूप उपयोग हैं । तीन जगत् के सभी पदार्थों को प्रत्यक्ष देखनेवाले जिनेश्वर भगवंत ने ये 12 उपयोग कहे हैं ।

मनुष्य में 12 उपयोग; नारक, तिर्यंच और देवों में 9 उपयोग, दो विकलेन्द्रिय में 5 उपयोग, चतुरिन्द्रिय में छह उपयोग और स्थावर जीवों में तीन उपयोग होते हैं ।

विवेचन :- तत्त्वार्थसूत्र में जीव का लक्षण बताते हुए कहा है- **'उपयोगो**

लक्षणम्' अर्थात् उपयोग यह जीव का लक्षण है । जिसमें `उपयोग है, वह जीव है और जिसमें उपयोग नहीं है, वह जीव नहीं है ।'

कोई भी जीव चाहे वह पंचेन्द्रिय हो या एकेन्द्रिय हो, उसमें उपयोग गुण अवश्य होता है ।

इस उपयोग के मुख्य दो और अवांतर बारह भेद हैं ।

उपयोग के दो भेद 1) साकार उपयोग और 2) निराकार उपयोग ।

ज्ञान यह साकार उपयोग कहलाता है और दर्शन निराकार उपयोग कहलाता है ।

साकार उपयोग के 8 भेद हैं-5 ज्ञान और 3 अज्ञान ।

निराकार उपयोग के 4 भेद हैं-चार दर्शन । सूक्ष्म निगोद के जीव में भी सूक्ष्म उपयोग तो अवश्य होता है, आत्मा उपयोग रहित हो जाय तो जड़ बन जाये ।

24 दंड़कों में से गर्भज मनुष्य में ये सभी प्रकार के 12 उपयोग होते हैं । देवों के 13 दंड़क, नारक का 1 दंड़क तथा गर्भज तिर्यंच का 1 दंड़क इन कुल 15 दंड़कों में 9 उपयोग ही होते हैं, क्योंकि इनमें चारित्र का अभाव होने से मनःपर्यवज्ञान, केवलदर्शन और केवलज्ञान का अभाव होता है ।

द्वीन्द्रिय और त्रीन्द्रिय रूप दो विकलेन्द्रियों में 2 ज्ञान (मतिज्ञान, श्रुतज्ञान) 2 अज्ञान (मति अज्ञान, श्रुत अज्ञान) तथा 1 अचक्षुदर्शन रूप 5 उपयोग होते हैं ।

चतुरिन्द्रिय में उपर्युक्त 5 के साथ 1 चक्षुदर्शन मिलकर कुल 6 उपयोग होते हैं ।

स्थावर के 5 दंड़कों में 2 अज्ञान और 1 अचक्षुदर्शन ये तीन उपयोग होते हैं ।

दंडक	उपयोग
1 गर्भज मनुष्य	12 उपयोग
1 गर्भज तिर्यंच	9 उपयोग
1 नारक-	9 उपयोग
13 देव	9 उपयोग
1 द्वीन्द्रिय	5 उपयोग
1 त्रीन्द्रिय	5 उपयोग
1 चउरिन्द्रिय	6 उपयोग
5 स्थावर	3 उपयोग

17. 16-17-18 वाँ उपपात-च्यवन-स्थिति द्वार

संखमसंखा समए गब्भयतिरि विगल नारय सुरा य ।
मणुआ नियमा संखा, वण-णंता थावर असंखा ।।25।।
असन्नि नर असंखा, जह उववाए तहेव चवणे वि ।
बावीस सग ति दसवास, सहस्स उक्किट्ठ पुढवाई ।।26।।

शब्दार्थ

संखं=संख्यात	**मणुआ=**मनुष्य
असंखा=असंख्यात	**नियमा=**निश्चय से
समए=एक समय में	**संखा=**संख्याता
गब्भयतिरि=गर्भज तिर्यंच	**वण=**वनस्पति
विगल=विकलेन्द्रिय	**अणंता=**अनंत
नारय=नारक	**थावर=**स्थावर
सुरा=देवता	**असंखा=**असंख्य ।।25।।

असन्नि=असंज्ञी	**बावीस=**बाईस
नर=मनुष्य	**सग=**सात
असंखा=असंख्य	**ति=**तीन
जह=जिस प्रकार	**दसवास=**दश वर्ष
उववाए=उपपात	**सहस्स=**हजार
तहेव=उसी प्रकार	**उक्किट्ठ=**उत्कृष्ट
चवणे वि=च्यवनमें भी	**पुढवाई=**पृथ्वीकाय आदि ।।26।।

गाथार्थ :- एक समय में गर्भज तिर्यंच, विकलेन्द्रिय, नारक और देवता संख्याता अथवा असंख्याता, मनुष्य संख्याता ही, वनस्पति जीव अनंत तथा स्थावर जीव असंख्यात उत्पन्न होते हैं ।

असंज्ञी मनुष्य असंख्य हैं । उपपात की तरह ही च्यवन है । पृथ्वीकाय आदि की उत्कृष्ट स्थिति बाईस हजार, सात हजार, तीन हजार और दस हजार वर्ष है ।

विवेचन :- किस दंड़क में एक समय में कितने जीव उत्पन्न होते हैं? उसे उपपात द्वार कहते हैं ।

किस दंड़क में कितने समय तक एक भी जीव उत्पन्न नहीं होता है ? उसे विरह काल कहते हैं ।

किस दंड़क में एक समय में कितने जीवों का च्यवन अर्थात् मरण होता है ? अथवा कितने समय तक एक भी जीव मृत्यु नहीं पाता है उसे च्यवन द्वार कहते हैं ।

स्थिति अर्थात् आयुष्य । किस दंड़क में जीवों का कितना आयुष्य होता है, उसका वर्णन स्थिति द्वार में होता है ।

उपपात द्वार

गर्भज तिर्यंच का 1 दंड़क, सात नारक का 1 दंड़क तथा देवताओं के 13 दंड़क विकलेन्द्रिय के 3 दंड़क-इन 18 दंड़कों में एक समय में एक साथ संख्याता या असंख्याता जीव पैदा होते हैं ।

गर्भज मनुष्य एक समय में निश्चय से 1-2-3 की संख्या द्वारा संख्याता ही पैदा होते हैं । क्योंकि गर्भज मनुष्यों की उत्कृष्ट संख्या जगत् में 29 के आंकड़े जितनी ही होती है ।

5 स्थावर में से एक वनस्पति (साधारण वनस्पति काय) में एक समय में अनंत जीव उत्पन्न होते हैं, क्योंकि साधारण वनस्पति के जीव अनंत हैं, वनस्पति को छोड़ चार स्थावर (पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय, वायुकाय और प्रत्येक वनस्पतिकाय) सूक्ष्म-बादर मिलकर भी असंख्य ही हैं, अतः वे एक समय में एक साथ असंख्य ही पैदा होते हैं ।

असंज्ञी मनुष्य (संमूर्च्छिम मनुष्य) जो मनुष्य के मल-मूत्र आदि 14 अशुचि स्थानों में उत्पन्न होते हैं वे इस जगत् में असंख्य हैं, अतः एक समय में उनकी उत्पत्ति भी असंख्य है ।

च्यवन द्वार

सभी दंड़कों में च्यवन (मृत्यु) की संख्या उपपात द्वार के समान समझनी चाहिए ।

24 दंड़क में एक साथ उपपात व च्यवन	
1 गर्भज तिर्यंच	संख्याता - असंख्याता
3 विकलेन्द्रिय	संख्याता
1 नारक	असंख्याता
13 देव दंड़क	संख्याता - असंख्याता
1 गर्भज मनुष्य	संख्याता
1 वनस्पति	अनंत
4 स्थावर	असंख्य

विरह द्वार

यद्यपि दंड़क की मूल गाथाओं में स्वतंत्र विरह द्वार का निर्देश नहीं है, फिर भी प्रसंगानुसार उपयोगी होने से उसका यहाँ निर्देश किया जा रहा है ।

7 नारकों के 1 दंड़क में सामान्य से 12 मुहूर्त का विरह काल है ।

विरहकाल दो प्रकार का है :-

1) उतने समय तक कोई नया जीव पैदा न हो उसे उपपात विरह कहते हैं ।

2) उतने समय तक उस दंड़क में कोई जीव मृत्यु न पाए, उसे च्यवन विरह कहते हैं ।

प्रत्येक नरक का विचार करे तो पहली नरक में उत्कृष्ट विरह काल 24 मुहूर्त, दूसरी में 7 दिन, तीसरी में 15 दिन, चौथी में 1 मास, पाँचवीं नरक में 2 मास छठी नरक में 4 मास सातवीं नरक में 6 मास का विरह काल है । जघन्य से विरह काल 1 समय का है ।

चारों निकाय के देवों में सामान्य से विरह काल 12 मुहूर्त है । भिन्न-भिन्न दृष्टि से विचार करें तो–

10 भवन पति, व्यंतर, ज्योतिषी के 12 दंड़कों में 24 मुहूर्त का विरह काल है ।

उत्कृष्ट विहर काल

वैमानिक देवों में सामान्य से 24 मुहूर्त है और अलग अलग विचार करें तो–

पहले-दूसरे देवलोक में 24 मुहूर्त
तीसरे देवलोक में 9 दिन 20 मुहूर्त
चौथे देवलोक में 12 दिन 10 मुहूर्त
पाँचवें देवलोक में 22.5 दिन
छठे देवलोक में 45 दिन
सातवें देवलोक में 80 दिन
आठवें देवलोक में 100 दिन
नौवें देवलोक में 10 मास
दसवें देवलोक में 11 मास
ग्यारह-बारह देवलोक में 100 वर्ष
पहले तीन ग्रैवेयक में 1000 वर्ष के अंदर
दूसरे तीन ग्रैवेयक में 1 लाख वर्ष के अंदर
तीसरे तीन ग्रैवेयक में 1 करोड़ वर्ष के अंदर
चार अनुत्तर में पल्योपम का असंख्यातवां भाग
सर्वार्थसिद्ध विमान में पल्योपम का संख्यातवां भाग है
गर्भज तिर्यंच में 12 मुहूर्त
गर्भज मनुष्य में 12 मुहूर्त
तीन विकलेन्द्रिय में 1-1 मुहूर्त है !
उपरोक्त सभी का जघन्य विरहकाल एक समय है ।
पाँच एकेन्द्रिय में विरहकाल नहीं है ।

स्थिति द्वार

स्थिति अर्थात् आयुष्य ।
बादर रत्न आदि पृथ्वीकाय का आयुष्य 22000 वर्ष
बादर अप्काय का आयुष्य 7000 वर्ष
बादर वायुकाय को आयुष्य 3000 वर्ष
प्रत्येक वनस्पतिकाय का आयुष्य 10000 वर्ष

तिदिणग्गि ति पल्लाउ नरतिरि सुर-निरय सागर तित्तीसा ।
वंतर पल्लं जोइस-वरिसलक्खाहियं पलियं ।।27।।
असुराण अहिय अयरं, देसूण दुपल्लयं नव निकाये ।
बारस वासूण पण दिण-छम्मासुक्किट्ठ विगलाऊ ।।28।।

शब्दार्थ

तिदिण=तीन दिन	**तित्तीसा=**तैंतीस
अग्गि=अग्नि काय	**वंतर=**व्यंतर
तिपल्ल=तीन पल्योपम	**पल्लं=**पल्योपम
आउ=आयुष्य	**जोइस=**ज्योतिष
नरतिरि=मनुष्य-तिर्यंच	**वरिस=**वर्ष
सुरनिरय=देव-नरक	**लक्खाहियं=**लाख से अधिक
सागर=सागरोपम	**पलियं=**पल्योपम ।।27।।
असुराण=असुरकुमार का	**बारस=**बारह
अहिय=कुछ अधिक	**वास=**वर्ष
अयरं=सागरोपम	**उणपण=**उनपचास
देसूण=कुछ न्यून	**दिण=**दिन
दुपल्लयं=दो पल्योपम	**छम्मास=**छह मास
नव=नौ	**उक्किट्ठ=**उत्कृष्ट
निकाए=निकाय में	**विगलाऊ=**विकलेन्द्रिय का आयु ।।28।।

गाथार्थ :- अग्निकाय का तीन दिन, गर्भज मनुष्य और तिर्यंच का तीन पल्योपम, देव और नारक का तैंतीस सागरोपम, व्यंतर का एक पल्योपम और ज्योतिष देवों का एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम उत्कृष्ट आयुष्य होता है ।

असुरकुमारों का कुछ अधिक एक सागरोपम, नव निकाय का कुछ न्यून दो पल्योपम, विकलेन्द्रिय का क्रमशः आयुष्य 12 वर्ष, 49 दिन और छह मास है ।

विवेचन :- निराबाध स्थान में कोई अग्नि रहा हो तो उन अग्निकाय के जीवों का उत्कृष्ट आयुष्य तीन दिन होता है ।

गर्भज पंचेन्द्रिय मनुष्य व तिर्यंचों का उत्कृष्ट आयुष्य तीन पल्योपम होता है । देवकुरु तथा उत्तरकुरु एवं भरत और ऐरावत क्षेत्र के प्रथम आरे में

युगलिक मनुष्यों का यह उत्कृष्ट आयुष्य कहा गया है । अन्य क्षेत्रों में इतना आयुष्य नहीं होता है ।

वैमानिक देवता और नरक का आयुष्य 33 सागरोपम कहा है, वह सर्वार्थसिद्ध विमान और 7वीं नरक की अपेक्षा से है ।

व्यंतर देवों का उत्कृष्ट आयुष्य 1 पल्योपम और देवियों का 1/2 पल्योपम है ।

ज्योतिष देवों का उत्कृष्ट आयुष्य 1 लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम है ।

भवनपति देवों में असुरकुमारों का आयुष्य एक सागरोपम से कुछ अधिक है । शेष 9 भवनपति देवों में कुछ न्यून दो पल्योपम का आयुष्य है ।

विकलेन्द्रिय के तीन दंडकों में द्वीन्द्रिय का 12 वर्ष का है, त्रीन्द्रिय का 49 दिन है और चतुरिन्द्रिय का छह महिना उत्कृष्ट आयुष्य है ।

24 दंड़कों में उत्कृष्ट आयुष्य	
1 पृथ्वीकाय-	22000 वर्ष
1 अप्काय-	7000 वर्ष
1 वायुकाय-	3000 वर्ष
1 वनस्पतिकाय-	10000 वर्ष
1 अग्निकाय	तीन दिन
1 गर्भज मनुष्य-	3 पल्योपम
1 गर्भज तिर्यंच-	3 पल्योपम
1 वैमानिक देव-	33 सागरोपम
1 नारक-	33 सागरोपम
1 व्यंतर-	1 पल्योपम
1 ज्योतिषी-	1 लाख वर्ष अधिक 1 पल्योपम
1 असुरकुमार-	साधिक 1 सागरोपम
9 भवनपति-	कुछ न्यून 2 पल्योपम
1 द्वीन्द्रिय-	12 वर्ष
1 त्रीन्द्रिय-	49 दिन
1 चतुरिन्द्रिय-	6 मास

18. जघन्य आयुष्य स्थिति

पुढवाइ दस पयाणं, अंतमुहुत्तं जहन्न आउठिई ।
दस सहस वरिसठिइआ, भवणाहिव निरयवंतरिया ।।29।।

शब्दार्थ

पुढवाइ=पृथ्वीकाय आदि	**दस हस=**दश हजार
दस पयाणं=दश पद	**वरिसठिइआ=**वर्ष स्थिति
अंत मुहुत्तं=अन्तर्मुहूर्त	**भवणाहिव=**भवनपति
जहन्न=जघन्य	**निरय=**नरक
आउठिई=आयु की स्थिति	**वंतरिया=**व्यंतर ।।29।।

गाथार्थ :- पृथ्वीकाय आदि दश पदों की जघन्य आयुष्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है । भवनपति, नारक और व्यंतरों की जघन्य स्थिति 10000 वर्ष है ।

विवेचन :- पृथ्वी आदि 10 पद अर्थात् पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउ-काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, गर्भज तिर्यंच और गर्भज मनुष्य रूप 10 दंड़क समझने चाहिए । इन 10 दंडकों में अन्तर्मुहूर्त काल का जघन्य आयुष्य है । भवनपति के 10 दंडक, नारक के 1 दंडक और व्यंतर के 1 दंडक में 10,000 वर्ष का जघन्य आयुष्य है ।

19. स्थिति द्वार चालू, 19वाँ पर्याप्ति द्वार

वेमाणिय जोइसिया, पल्लतयट्ठंस आउआ हुंति ।
सुर नर तिरिनिरएसु, छ पज्जत्ती थावरे चउगं ।।30।।

शब्दार्थ

वेमाणिय=वैमानिक	**सुर नर=**देव, मनुष्य
जोइसिया=ज्योतिष	**तिरि निरएसु=**तिर्यंच नरक में
पल्लतय=पल्योपम का	**छ=**छह
अट्ठंस=आठवाँ भाग	**पज्जत्ती=**पर्याप्तियाँ
आउआ=आयुष्यवाले	**थावरे=**स्थावर में
हुंति=होते हैं	**चउगं=**चार ।।30।।

गाथार्थ :- वैमानिक और ज्योतिषी क्रमशः पल्योपम और पल्योपम के आठवें भाग के आयुष्यवाले होते हैं ।

देव, मनुष्य, तिर्यंच और नरक के जीवों के छह एवं स्थावर में चार पर्याप्ति होती हैं ।

विवेचन :- वैमानिकों का जघन्य आयुष्य एक पल्योपम है, वह पहले सौधर्म देवलोक के देवता की अपेक्षा से है । ज्योतिष देवों का जघन्य आयुष्य पल्योपम का आठवाँ भाग है, वह तारा की देवियों की अपेक्षा से है ।

24 दंड़कों में जघन्य आयुष्य

पृथ्वीकाय आदि 10 दंड़क	अन्तर्मुहूर्त
10 भवनपति	10000 वर्ष
1 नारक	10000 वर्ष
1 व्यंतर	10000 वर्ष
1 वैमानिक	1 पल्योपम
1 ज्योतिष	पल्योपम का आठवां भाग

पर्याप्ति द्वार

पर्याप्ति की व्याख्या :- आत्मा जब पूर्व शरीर का त्याग कर नए शरीर को धारण करती है, तब उसे अपने नए शरीर का निर्माण करना होता है । अपने नवीन जन्म क्षेत्र में आत्मा एक साथ, पुद्गलों का उपचय करती है, उसे अथवा उससे उत्पन्न होने वाली पौद्गलिक शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं । बृहद् संग्रहणी में कहा है-

`जिन पुद्गल समूह दलिकों से आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन की रचना होती है, उन दलिकों का अपने-अपने विषय रूप में परिणमन के प्रति जो शक्ति रूप करण है, उसे पर्याप्ति कहते हैं ।'

पर्याप्तियों के छह भेद :-

1. आहार पर्याप्ति : पुद्गलों के उपचय से उत्पन्न शक्ति से आहार ग्रहण कर उसे खल (कचरा) और रस के रूप में परिणमन करने की शक्ति को आहार पर्याप्ति कहते हैं । यहाँ खल शब्द से मल-मूत्रादि रूप असार

पुद्गल और रस शब्द से सात धातु में परिणमन योग्य जल जैसा प्रवाही पदार्थ समझना चाहिए ।

2. शरीर पर्याप्ति : जीव, पुद्गलोपचय से उत्पन्न शक्ति द्वारा रस (प्रवाही) रूप में परिणत आहार को सात धातु के रूप में परिणत करने की शक्ति को शरीर पर्याप्ति कहते हैं । इस पर्याप्ति द्वारा आत्मा रस को रक्त, मांस, चर्बी, हड्डी, मज्जा और वीर्य रस बनाकर उसे शरीर रूप में बनाते हैं ।

3. इन्द्रिय पर्याप्ति : शरीर रूप में परिणत पुद्गलों में से इन्द्रिय योग्य पुद्गलों को ग्रहण कर उसे इन्द्रिय रूप में परिणमन करने की शक्ति को इन्द्रिय पर्याप्ति कहते हैं ।

4. श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति : श्वासोच्छ्वास योग्य पुद्गल वर्गणा को ग्रहण कर उसे श्वासोच्छ्वास रूप में परिणमन करने की शक्ति को श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहते हैं । बाहर के वायु को शरीर में लेना और अंदर के वायु को बाहर निकालने को श्वासोच्छ्वास कहते हैं ।

5. भाषा पर्याप्ति : आत्मा जिस शक्ति विशेष से भाषा योग्य वर्गणा (पुद्गलों) को ग्रहण कर उन्हें भाषा रूप में परिणत करती है, उस शक्ति को भाषा पर्याप्ति कहते हैं ।

6. मनः पर्याप्ति : जिस शक्ति से आत्मा मनोयोग्य वर्गणा (पुद्गलों) को ग्रहण कर उन्हें मन रूप में परिणत करती है उसे मनः पर्याप्ति कहते हैं ।

किस जीव को कितनी पर्याप्ति ?

सभी संसारी जीव समस्त पर्याप्ति को पूर्ण नहीं करते हैं ।

1. एकेन्द्रिय जीव चार पर्याप्ति-आहार, शरीर, इन्द्रिय व श्वासोच्छ्वास को ही पूर्ण करते हैं । एकेन्द्रिय जीवों में भाषा व मन का अभाव होता है ।

2. द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव, पाँच पर्याप्ति के योग्य होते हैं ।

3. संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव सभी छह पर्याप्तियों को पूर्ण करते हैं ।

पर्याप्ति का आरंभ व समाप्ति काल :- जो जीव जितनी पर्याप्ति के योग्य है, वह जीव उन सभी पर्याप्तियों का प्रारंभ तो एक ही साथ करता है परन्तु उनकी समाप्ति क्रमशः होती है । जीवात्मा सर्वप्रथम आहार-पर्याप्ति पूर्ण करता है, उसके बाद शरीर, इन्द्रिय आदि पर्याप्ति पूर्ण करता है ।

उत्पत्ति (जन्म) के प्रथम समय में ही आहार पर्याप्ति पूर्ण हो जाती है, जबकि अन्य समस्त पर्याप्तियों को पूर्ण करने में अन्तर्मुहूर्त का समय लग जाता है ।

पर्याप्ति की अपेक्षा जीवों के चार भेद :-

1. लब्धि अपर्याप्त : जो जीव स्वयोग्य पर्याप्ति को पूर्ण करने के पहले ही मर जाता है, उसे लब्धि अपर्याप्त कहते हैं । वह जीव भी आहार, शरीर व इन्द्रिय, इन तीन पर्याप्तियों को तो अवश्य पूर्ण करता ही है, क्योंकि उसके सिवाय नए भव के आयुष्य का बंध नहीं होता है ।

उदाहरणतः संज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणी स्व योग्य छह पर्याप्तियों में से चार या पाँच पर्याप्ति पूर्ण करने के पहले ही मर जाय उसे लब्धि अपर्याप्त कहते हैं ।

2. लब्धि पर्याप्त : जो आत्मा अपनी मृत्यु के पूर्व स्व गति योग्य पर्याप्तियों को अवश्य पूर्ण करती है, उसे लब्धि पर्याप्त कहते हैं । पर्याप्त नाम कर्म के उदय से जीव को यह शक्ति प्राप्त होती है ।

3. करण अपर्याप्त : जो जीव जब तक स्वयोग्य पर्याप्तियों को पूर्ण नहीं कर पाया हो तब तक उसे करण अपर्याप्त कहते हैं ।

4. करण पर्याप्त : जिस जीव ने स्व योग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण कर दी हों उसे करण पर्याप्त कहते हैं ।

24 दंड़कों में से देव के 13 दंड़क, 1 गर्भज तिर्यंच, 1 गर्भज मनुष्य और 1 नारक इस प्रकार इन 16 दंड़कों में सभी छह पर्याप्तियाँ होती हैं । पाँच स्थावर के 5 दंड़क में भाषा और मन को छोड़कर चार पर्याप्तियाँ होती हैं ।

20. पर्याप्ति द्वार चालू तथा 20वाँ किमाहार द्वार

विगले पंच पज्जत्ती, छ द्विसि आहार होइ सव्वेसिं ।
पणगाइ पये भयणा, अह सन्नि तियं भणिस्सामि ।।31।।

शब्दार्थ

विगले=विकलेन्द्रिय में	**पणगाइ=**सूक्ष्मवनस्पति आदि 5
पंच पज्जत्ती=पाँच पर्याप्तियाँ	**पये=**पद में
छ द्दिसि=छह दिशाओ से	**भयणा=**भजना
आहार=आहार	**अह=**अब
होइ=होता है	**सन्नितिय=**संज्ञीत्रिक
सव्वेसिं=सब का	**भणिस्सामि=**कहूंगा ।।31।।

गाथार्थ :- विकलेन्द्रिय जीवों में 5 पर्याप्ति होती है । सभी जीवों को छ दिशाओं से आहार होता है । परंतु पनक आदि पदों में भजना होती है । अब तीन संज्ञी कहूंगा ।

विवेचन :- विकलेन्द्रिय अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय इन तीन दंड़कों में मन पर्याप्ति को छोड़कर शेष 5 पर्याप्तियाँ होती हैं ।

24 दंड़कों में पर्याप्तियाँ

13 देव दंड़क	6 पर्याप्तियाँ
1 गर्भज मनुष्य	6 पर्याप्तियाँ
1 गर्भज तिर्यंच	6 पर्याप्तियाँ
1 नारक	6 पर्याप्तियाँ
5 स्थावर	4 पर्याप्तियाँ
3 विकलेन्द्रिय	5 पर्याप्तियाँ

किमाहार द्वार

किम् आहार अर्थात् कितनी दिशाओं से आहार के पुद्गल ग्रहण करना ।

कोई भी जीव कम-से-कम तीन दिशाओं से तो आहार ग्रहण करता ही है । उससे आगे बढ़कर चार, पाँच व छह दिशाओं से भी आहार ग्रहण करता है । अतः किमाहार के चार विकल्प हुए ।

दिशाएँ छह हैं- पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण, ऊर्ध्व और अधो दिशा ।

14 राजलोक के मध्य में रहा जीव छह दिशाओं से आहार के पुद्गल ग्रहण करता है, जबकि चौदह राजलोक के कोने में अथवा अंत में रहा जीव तीन, चार या पाँच दिशाओं से आहार के पुद्गल ग्रहण करता है ।

14 राजलोक के चारों ओर अलोक आया हुआ है । अलोक में आहार के पुद्गलों का सर्वथा अभाव है अतः लोकाकाश के अंतिम आकाश प्रदेश में रहे जीव को एक, दो या तीन दिशाओं में अलोक का स्पर्श होता है, अतः उसे उन दिशाओं से आहार की प्राप्ति नहीं होती है ।

त्रस जीव त्रसनाड़ी में ही होते हैं और त्रसनाड़ी मध्य में आई हुई है अतः त्रस जीवों को छह दिशाओं से आहार की प्राप्ति होती है जबकि स्थावर जीवों को 3, 4 या 5 दिशाओं से भी आहार होता है ।

24 दंड़कों में किमाहार

जो मध्य में रहे हैं, वे यद्यपि 24 दंड़कों के सभी जीव छह दिशाओं से आहार ग्रहण करते हैं । परंतु पनक आदि सूक्ष्म वनस्पति, सूक्ष्म पृथ्वीकाय, सूक्ष्म अप्काय, सूक्ष्म तेउकाय, सूक्ष्म वायुकाय आदि और बादर वायुकाय ये तीन, चार, पाँच और छह दिशाओं से भी आहार ग्रहण कर सकते हैं ।

21. 21, 22, 23 वाँ संज्ञी, गति, आगति द्वार

चउविह सुरतिरिएसु, निरएसु य दीहकालिगी सन्ना ।
विगले हेउवएसा, सन्नारहिया थिरा सव्वे ।।32।।

मणुआण दीहकालिय, दिट्ठीवाओवएसिया केवि ।
पज्ज पण तिरि-मणुअच्चिय, चउविह देवेसु गच्छंति ।।33।।

शब्दार्थ

चउविह=चार प्रकार
सुर=देवता
तिरिएसु=तिर्यंचों में
निरएसु=नारकों में
दीहकालिगी=दीर्घकालिकी
सन्ना=संज्ञा
विगले=विकलेन्द्रिय में
हेउवएसा=हेतुवादोपदेशिकी
सन्नारहिया=संज्ञा से रहित
थिरा=स्थावर
सव्वे=सभी

।।32।।

मणुआण=मनुष्यों को	**तिरि=**तिर्यंच
दीहकालिय=दीर्घकालिकी	**मणुअच्चिय=**मनुष्य ही
दिट्ठीवाओवएसिया=दृष्टिवादोपदेशिकी	**चउविह=**चारों प्रकार के
केवि=कइयों को	**देवेसु=**देवलोक में
पज्ज=पर्याप्त	**गच्छंति=**जाते हैं
पण=पंचेन्द्रिय	।।33।।

गाथार्थ :- चार प्रकार के देवता, तिर्यंच तथा नारकों को दीर्घकालिकी संज्ञा होती है । विकलेन्द्रिय जीवों में हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा होती हैं और सभी स्थावर संज्ञा रहित होते है ।।32।।

मनुष्य में दीर्घकालिकी संज्ञा होती है और कइयों को दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा भी होती है ।

पर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य चारों प्रकार के देवभव में जाते हैं ।।33।।

विवेचन :– गाथा नं. 12 के विवेचन में क्षयोपशम जन्य संज्ञाएँ बताई थी । क्षयोपशम जन्य संज्ञा के तीन भेद हैं 1. दीर्घकालोपदेशिकी 2. हेतुवादोपदेशिकी तथा 3. दृष्टिवादोपदेशिकी ।

1) दीर्घकालोपदेशिकी : अतीत, अनागत और वर्तमान वस्तुविषयक ज्ञान, दीर्घकालोपदेशिकी संज्ञा है । जैसे 'यह किया, यह करना है, यह करूंगा' इत्यादि मनोविज्ञान । ऐसे त्रैकालिक वस्तु विषयक ज्ञानवाला आत्मा दीर्घकालोपदेश संज्ञी है । यह संज्ञा मनपर्याप्ति युक्त गर्भज तिर्यंच, गर्भज मनुष्य, देव और नारक के ही होती है क्योंकि त्रैकालिक चिन्तन उन्हीं को होता है । इस संज्ञा वाले प्राणी को सभी पदार्थ स्पष्ट परिलक्षित होते हैं । जैसे चक्षुवाला प्राणी प्रदीपादि के प्रकाश में सभी पदार्थों को स्पष्ट देखता है, वैसे इस संज्ञा से संज्ञी व्यक्ति मनोद्रव्य की सहायता से उत्पन्न चिन्तन के द्वारा पूर्वापर का अनुसंधान करते हुए वस्तु का यथार्थ ज्ञान करता है ।

इस संज्ञा से रहित संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय आदि अपेक्षाकृत असंज्ञी है । इनमें मनोलब्धि अल्प, अल्पतर होती है, अतः इनका ज्ञान भी अस्फुट, अस्फुटतर होता है । संज्ञी पंचेन्द्रिय की अपेक्षा संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय का ज्ञान अस्फुट होता है । संमूर्च्छिम पंचेन्द्रिय की अपेक्षा चतुरिन्द्रिय का ज्ञान अधिक अस्फुट होता है । उसकी अपेक्षा त्रीन्द्रिय का ज्ञान

अस्फुटतर होता है । उससे द्वीन्द्रिय का ज्ञान अस्फुटतम होता है । एकेन्द्रिय का ज्ञान तो सर्वथा अस्फुट होता है । क्योंकि उनके प्रायः मनोद्रव्य नहीं होता । एकेन्द्रिय के अत्यंत अल्प व अव्यक्त मन होता है, जिससे उसे भूख, प्यास इत्यादि की अव्यक्त अनुभूति होती है ।

2) हेतुवादोपदेशिकी : जिस संज्ञा में हेतु विषयक प्ररूपणा हो अर्थात् जिस संज्ञा द्वारा प्राणी अपने देह की रक्षा हेतु इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति करता है, वह हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा है । जैसे गर्मी हो तो छाया में जाना, सर्दी हो तो धूप में जाना, भूख लगने पर आहारादि के लिए प्रवृत्ति करना आदि । यह संज्ञा प्रायः वर्तमानकालीन प्रवृत्ति निवृत्तिविषयक है । प्रायः कहने से द्वीन्द्रिय आदि जीव जो अतीत, अनागत की भी सोच रखते हैं, ये इसी संज्ञा वाले हैं । क्योंकि उनके चिन्तन का विषय अतीत, अनागत काल होते हुए भी अति अल्प होता है । अतः प्रवृत्ति, निवृत्ति से रहित पृथ्वी आदि के जीव असंज्ञी ही हैं । तात्पर्य यह है कि प्राणी अपने देह की सुरक्षा हेतु चिन्तनपूर्वक इष्ट-अनिष्ट में प्रवृत्ति या निवृत्ति करता है, वह संज्ञी है । इस प्रकार द्वीन्द्रिय आदि भी हेतुवादोपदेशसंज्ञी हैं । चिन्तनपूर्वक प्रवृत्ति-निवृत्ति, मनोव्यापार के बिना नहीं होती और वह द्वीन्द्रिय आदि जीवों के होता है, क्योंकि उनमें इष्टवस्तु में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति स्पष्ट दिखाई देती है । इनका चिन्तन प्रायः वर्तमान विषयक ही होता है । दीर्घकालीन अतीत-अनागत विषयक नहीं होता । अतः ये दीर्घकालोपदेशिक संज्ञी नहीं हैं । जिन जीवों की प्रवृत्ति या निवृत्ति चिन्तनपूर्वक नहीं होती, वे जीव हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा की अपेक्षा असंज्ञी हैं जैसे पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय जीव ।

यद्यपि पृथ्वी आदि में आहारादि दस संज्ञा की विद्यमानता यहाँ और प्रज्ञापनादि सूत्र में बताई गई है, तथापि वे संज्ञी नहीं कहलाते, क्योंकि उनमें ये संज्ञायें अति अव्यक्त रूप में तथा अशोभनीय (तीव्र मोहनीय कर्मजन्य होने से) है । जैसे अल्प धन होने से कोई धनवान नहीं कहलाता । आकारमात्र से कोई रूपवान नहीं कहलाता वैसे आहारादि संज्ञा होने से कोई संज्ञी नहीं कहलाता ।

3) दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा : जिसमें सम्यक्त्व विषयक प्ररूपणा हो वह दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा है । इस संज्ञा की अपेक्षा क्षायोपशमिक सम्यग्ज्ञान युक्त सम्यग्दृष्टि ही संज्ञी है । मिथ्यादृष्टि सम्यग् ज्ञान रहित होने से असंज्ञी है । यद्यपि व्यवहार की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि में कोइ अन्तर नहीं

होता । मिथ्यादृष्टि भी सम्यग्दृष्टि की तरह घट को घट ही कहता है पट नहीं कहता । तथापि तीर्थंकर परमात्मा द्वारा प्ररूपित वस्तु स्वरूप की यथार्थ श्रद्धा न होने से, मिथ्यादृष्टि का व्यावहारिक सत्यज्ञान भी अज्ञानरूप ही है ।

प्रश्न : इस संज्ञा की अपेक्षा विशिष्ट ज्ञानयुक्त सम्यग्दृष्टि ही यदि संज्ञी है तो मात्र क्षायोपशमिक ज्ञानयुक्त ही क्यों लिया, क्षायिक ज्ञानयुक्त भी लेना चाहिए । क्योंकि क्षायिक ज्ञानी की संज्ञा विशिष्टतर होती है ।

समाधान : अतीत वस्तु का स्मरण और अनागत की चिन्ता करना `संज्ञा' है । केवलज्ञानी के ज्ञान में त्रैकालिक सभी वस्तुयें सदाकाल प्रतिभासित होने से उन्हें स्मरण, चिन्तन करने की आवश्यकता ही नहीं है । अतः इस संज्ञा की अपेक्षा क्षायोपशमिक ज्ञानी ही संज्ञी है ।

प्रश्न : सर्वप्रथम `हेतुवादोपदेशिकी' संज्ञा का प्रतिपादन करना चाहिए । कारण, वह अविशुद्धतर है । इस संज्ञा की अपेक्षा अल्प मनोलब्धि वाले द्वीन्द्रिय आदि भी संज्ञी कहलाते हैं । तत्पश्चात् दीर्घकालोपदेशिकी संज्ञा बताना चाहिए क्योंकि हेतुवादोपदेश संज्ञी की अपेक्षा दीर्घकालोपदेश संज्ञी मन पर्याप्ति-युक्त होने से अधिक विशुद्ध हैं तो यहाँ संज्ञाओं का कथन में क्रमभंग क्यों किया ?

समाधान : आगम में सर्वत्र संज्ञी-असंज्ञी का व्यवहार दीर्घकालोपदेशिकी संज्ञा द्वारा ही होता है । इसी कारण यहाँ भी सर्वप्रथम उसी का उल्लेख किया है । कहा है-

``सूत्र में संज्ञी-असंज्ञी का व्यवहार `दीर्घकालोपदेशिकी संज्ञा' द्वारा ही होता है अतः सर्वप्रथम उसी का कथन किया ।''

गौण होने से उसके बाद हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा तथा प्रधान होने से अंत में दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा बताई गई ।

24 दंड़कों में संज्ञा

देवताओं के 13 दंड़क, गर्भज तिर्यंच का 1 दंड़क, सात नरक का 1 दंड़क, इन 15 दंड़कों में दीर्घकालिकी संज्ञा होती है । इन जीवों को मनःपर्याप्ति होने से वे अपने भूत-भविष्य का विचार कर सकते हैं ।

विकलेन्द्रियों के 3 दंड़को में मनःपर्याप्ति का अभाव होने से वे भविष्य के सुख-दुःख का विचार नहीं कर पाते हैं, वे सिर्फ वर्तमान का ही विचार कर पाते हैं अतः उनमें हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा होती है ।

सभी स्थावरों में व्यक्त चेतना का अभाव होता है, वे अव्यक्त चेतनावाले होते हैं, अतः संज्ञा रहित कहलाते हैं ।

मनुष्य में विशिष्ट मनोविज्ञान होने से दीर्घकालिकी संज्ञा तो है ही, इसके साथ ही कुछ मनुष्यों में दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा भी होती है, क्योंकि कुछ मनुष्य सम्यग्दृष्टि भी होते हैं, वे द्वादशांगी का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और देशविरति-सर्वविरति भी अंगीकार कर सकते हैं ।

कुछ तिर्यंच सम्यग्दृष्टि और देशविरतिधर होने से उन्हें भी दृष्टिवादोपदेशी की संज्ञा हो सकती है, परंतु अल्प प्रमाण में होने से शास्त्र में उनकी विवक्षा नहीं की है । सम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से चारों गतिवाले देवता आदि दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञावाले होते हैं, परंतु विशिष्ट श्रुतज्ञान व हेयोपादेय का अभाव होने से उनमें यह संज्ञा नहीं गिनी गई है ।

24 दंड़कों में 3 संज्ञा	
13 देव दंड़क में	दीर्घकालिकी संज्ञा
1 गर्भज तिर्यंच में	दीर्घकालिकी संज्ञा
1 नारक में	दीर्घकालिकी संज्ञा
3 विकलेन्द्रिय में	हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा
5 स्थावर में	संज्ञा रहित
1 गर्भज मनुष्य में	दीर्घकालिकी व दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा

गति द्वार

24 दंड़को में से पर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य के दो दंडक के जीव चारों निकाय के देव गति में जा सकते है ।

22. गति-आगति द्वार चालू

संखाउ पज्ज पणिंदि-तिरिय नरेसु तहेव पज्जत्ते ।
भूदग पत्तेयवणे, एएसु च्चिय सुरागमणं ।।34।।

शब्दार्थ

संखाउ=संख्यातवर्ष आयु	**भू=**पृथ्वीकाय
पज्ज=पर्याप्ता	**दग=**अप्काय
पणिंदि=पंचेन्द्रिय	**पत्तेय=**प्रत्येक
तहेव=उसी प्रकार	**वणे=**वनस्पतिकाय में
तिरिय=तिर्यंच	**एएसु=**इनमें
नरेसु=मनुष्य भव में	**सुर=**देव
तहेव=उसी प्रकार	**आगमणं=**आगमन है
पज्जत्ते=पर्याप्त	।।34।।

गाथार्थ :- संख्यात वर्ष के आयुष्यवाले पर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य में, पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय में देवों का आगमन होता है अर्थात् देवता मरकर उस गति में जाते हैं ।

23. नारकों की गति-आगति

पज्जत्त संख गब्भय, तिरियनरा, निरयसत्तगे जंति ।
निरयउवट्टा एएसु, उववज्जंति न सेसेसु ।।35।।

शब्दार्थ

पज्जत्त=पर्याप्त	**जंति=**जाते हैं
संख=संख्यातवर्ष आयुष्य	**निरयउव्वट्टा=**नरक में से निकलकर
गब्भय=गर्भज	**एएसु=**इनमें
तिरिय=तिर्यंच	**उववज्जंति=**उत्पन्न होते हैं
नरा=मनुष्य	**न सेसेसु=**अन्य में नहीं
निरयसत्तगे=सात नरकों में	।।35।।

गाथार्थ :- पर्याप्त संख्यात वर्ष के आयुष्यवाले गर्भज तिर्यंच और मनुष्य सातों नरकों में उत्पन्न होते हैं और नरक में से निकलकर इन्हीं में उत्पन्न होते हैं, दूसरी जगह नहीं ।

24. पृथ्वी-अप् और वनस्पति में आगति

पुढवी आउ वणस्सइ, मज्झे नारय विवज्जिया जीवा ।
सव्वे उववज्जंति निय निय कम्माणुमाणेणं ।।36।।

शब्दार्थ

पुढवी=पृथ्वी	**जीवा=**जीव
आउ=अप्काय	**सव्वे=**सभी
वणस्सइ=वनस्पति	**उववज्जंति=**उत्पन्न होते हैं
मज्झे=मध्य में	**निय निय=**अपने-अपने
नारय विवज्जिया=नारक को छोड़कर	**कम्माणुमाणेणं=**कर्म के अनुसार ।।36।।

गाथार्थ :- नारक जीवों को छोड़कर अन्य सभी जीव अपने-अपने कर्म के अनुसार पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय में पैदा होते हैं ।

25. पृथ्वी-अप्-वनस्पति की गति तेउ-वायु की आगति

पुढवाइ दस पएसु पुढवी आउ वणस्सइ जंति ।
पुढवाइ दसपएहि य तेउ वाऊसु उववाओ ।।37।।

शब्दार्थ

पुढवाइ=पृथ्वीकाय आदि	**पुढवाइ=**पृथ्वीकाय आदि
दस पएसु=दश पदों में	**दस पएहि=**दश पदों से
पुढवी=पृथ्वीकाय	**तेउ=**अग्निकाय
आउ=अप्काय	**वाउसु=**वायुकाय में
वणस्सइ=वनस्पतिकाय	**उववाओ=**उत्पत्ति है
जंति=जाते हैं	।।37।।

गाथार्थ :- पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय ये जीव मरकर पृथ्वीकाय आदि दस पदों में उत्पन्न होते हैं । पृथ्वीकाय आदि दश पदों में से निकला हुआ जीव अग्निकाय और वायुकाय में पैदा होता है । (पृथ्वीकाय आदि 10 पद गाथा 29 में बताए है ।)

26. तेउकाय-वायुकाय की गति और विकलेन्द्रियों की आगति

तेऊवाऊ गमणं, पुढवी पमुहंमि होइ पय नवगे ।
पुढवाइ ठाण दसगा, विगलाइ तियं तहिं जंति ।।38।।

शब्दार्थ

तेऊ=तेउकाय	**पुढवाइ=**पृथ्वी आदि
वाऊ=वायुकाय	**ठाण दसगा=**दश स्थानों में
गमण=जाना	**विगलाइ=**विकलेन्द्रिय आदि
पुढवी पमुहंमि=पृथ्वीकाय आदि	**तिय=**त्रिक
होइ=उत्पन्न होते हैं	**तहिं=**वहाँ
पयनवगे=नौ पदों में	**जंति=**जाते हैं ।।38।।

गाथार्थ :- अग्निकाय और वायुकाय के जीव मरकर पृथ्वीकाय आदि नौ पदो में जाते हैं । पृथ्वीकाय आदि दश पद विकलेन्द्रिय में जाते हैं और तीनों विकलेन्द्रिय मरकर दश पदों में पैदा होते हैं ।

27. गर्भज तिर्यंच व मनुष्य की गति-आगति

गमणागमणं गब्भय तिरियाणं सयल जीव ठाणेसु ।
सव्वत्थ जंति मणुआ, तेऊवाऊहिं नो जंति ।।39।।

शब्दार्थ

गमण=जाना	**सव्वत्थ=**सर्वत्र
आगमणं=आना	**जंति=**जाते हैं
गब्भय=गर्भज	**तेऊवाऊहिं=**तेउकाय वायुकाय से
तिरियाणं=तिर्यंचों का	**नो जंति=**नहीं जाते हैं ।
सयल जीवठाणेसु=सभी जीवस्थानों में	।।39।।

गाथार्थ :- गर्भज तिर्यंचों का गमनागमन सभी जीवस्थानों में होता है। मनुष्य भी मरकर सभी दंड़कों में पैदा होता है । सिर्फ अग्निकाय और वायुकाय मरकर, मनुष्य नहीं बनते हैं ।

28. 24 वाँ वेद द्वार

वेय तिय तिरिनरेसु इत्थी पुरिसो य चउविहसुरेसु ।
थिर विगल नारएसु, नपुंसवेओ हवइ एगो ।।40।।

शब्दार्थ

वेदतिय=तीनों वेद	**सुरेसु=**देवों में
तिरि=तिर्यंच	**थिर=**स्थावर
नरेसु=मनुष्य में	**विगल=**विकलेन्द्रिय
इत्थी=स्त्री	**नारएसु=**नारकों में
पुरिसो=पुरुष	**नपुंसवेओ=**नपुंसकवेद
चउविह=चारों	**हवइ एगो=**एक होता है । ।।40।।

गाथार्थ :- तिर्यंच और मनुष्यों में तीनों वेद होते हैं । चारों प्रकार के देवताओं में स्त्री और पुरुष वेद होता है । स्थावर, विकलेन्द्रिय और नारकों में सिर्फ नपुंसक वेद होता है ।

विवेचन :- वेद अर्थात् विषय भोग की अभिलाषा । ये वेद तीन प्रकार के हैं ।

1) स्त्रीवेद : पुरुष के साथ विषयभोग की इच्छा हो, उसे स्त्रीवेद कहा जाता है ।

2) पुरुष वेद : स्त्री के साथ विषयभोग करने की इच्छा को पुरुष वेद कहते है ।

3) नपुंसक वेद : पुरुष और स्त्री दोनों के साथ विषयभोग की इच्छा को नपुंसक वेद कहते हैं ।

इन तीन वेदों में पुरुषवेद घास की अग्निसमान है, जो तुरंत उत्पन्न होती है और तुरंत शांत हो जाती है ।

स्त्रीवेद गोबर के कंड़े की अग्नि समान है, जो देरी से उत्पन्न होती है और देरी से शांत होती है । नपुंसक वेद नगरदाह समान है, जो देरी से उत्पन्न होती है, परंतु जिसे शांत करने में खूब श्रम लगता है ।

युगलिक तिर्यंच और मनुष्य में नपुंसक वेद नहीं होता है ।

एकेन्द्रिय में भी मैथुन संज्ञा कही गई है, अतः वहाँ अस्पष्ट नपुंसक वेद उदय में होता है ।

तीसरे सनत्कुमार देवलोक से ऊपर के देवों में सिर्फ पुरुष देव ही होते हैं, वहां देवियों की उत्पत्ति नहीं है ।

24 दंड़कों में वेद

1 गर्भज तिर्यंच	तीनों वेद
1 गर्भज मनुष्य	तीनों वेद
13 देव	दो वेद (स्त्री व पुरुष)
शेष 9 दंड़क	नपुंसक वेद

29. 24 दंड़कों में अल्पबहुत्व

पज्जमणु बायरग्गी, वेमाणिय भवण निरय वंतरिया ।
जोइस चउ पण तिरिया, बेइंदिय-तेइंदिय भू आऊ ।।41।।

शब्दार्थ

पज्जमणु=पर्याप्त मनुष्य
बायरग्गी=बादर अग्निकाय
वेमाणिय=वैमानिक
भवण=भवनपति
निरय=नरक
वंतरिया=व्यंतर
जोइस=ज्योतिष
चउ=चतुरिन्द्रिय
पण=पंचेन्द्रिय
तिरिया=तिर्यंच
बेइंदिय=द्वीन्द्रिय
तेइंदिय=त्रीन्द्रिय
भूआऊ=पृथ्वीकाय, अप्काय
।।41।।

वाऊ वणस्सइ च्चिय, अहिया अहिया कमेणिमे हुंति ।
सव्वे वि इमे भावा जिणा ! मए णंतसो पत्ता ।।42।।

शब्दार्थ

वाऊ=वायुकाय
वणस्सइ=वनस्पति
च्चिय=अवश्य
अहिया अहिया=अधिक-अधिक
कमेणिमे=क्रमशः ये
हुंति=होते हैं
सव्वे=सभी
इमे=ये
भावा=भाव
जिणा=जिनेश्वर भगवंत !
मए=मेरे द्वारा
णंतसो पत्तो=अनंतबार प्राप्त हुए हैं ।।42।।

गाथार्थ :- हे जिनेश्वर ! पर्याप्त मनुष्य, पर्याप्त बादर अग्निकाय, वैमानिक, भवनपतिदेव, नारक, व्यंतर, ज्योतिषदेव, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यंच, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, पृथ्वीकाय अप्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, क्रमशः अधिक- अधिक हैं, ये सभी भाव मैंने अनंतबार प्राप्त किए हैं ।

विवेचन :- अल्पबहुत्व से हमें ख्याल आता है कि इस जगत् में सबसे कम जीव कौन से हैं । पर्याप्त गर्भज मनुष्य सबसे कम संख्या में हैं । गर्भज मनुष्य से संमूर्च्छिम मनुष्य असंख्य गुणा हैं । उससे असंख्य गुणा बादर अग्निकाय के जीव हैं । उससे वैमानिक, भवनपति, नारक, व्यंतर देव, ज्योतिषदेव और चतुरिन्द्रिय जीव क्रमशः असंख्य-असंख्य गुणा हैं । चतुरिन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तिर्यंच विशेषाधिक हैं, उनसे अधिक द्वीन्द्रिय और उससे अधिक त्रीन्द्रिय जीव हैं ।

त्रीन्द्रिय से पृथ्वीकाय असंख्य गुणा, पृथ्वीकाय से अप्काय असंख्य गुणा अप्काय से वायुकाय असंख्य गुणा और वायुकाय से वनस्पतिकाय अनंत गुणा हैं ।

प्रभु से प्रार्थना

हे प्रभो ! इन चौबीस दंड़कों में एक भी दंड़क ऐसा नहीं है, जहाँ मेरी आत्मा ने अनंती बार जन्म और मरण नहीं किया हो, अर्थात् मेरी आत्मा इन दंड़कों में अनंतबार भटकी है ।

30. मोक्ष के लिए प्रार्थना

संपइ तुम्ह भत्तस्स, दंड़गपय भमण भग्ग हिययस्स ।
दंड़तिय विरय सुलहं, लहु मम दिंतु मुक्खपयं ।।43।।

शब्दार्थ

संपइ=अभी	**दंडतिय=**तीन दंड़क
तुम्ह=आपका	**विरय=**विराम
भत्तस्स=भक्त को	**सुलहं=**सुलभ
दंड़गपय=दंड़क पद	**लहु=**शीघ्र
भमण=भ्रमण से	**मम दिंतु=**मुझे दो
भग्गहिययस्स=भग्न हृदयवाले को	**मुक्खपयं=**मोक्षपद ।।43।।

गाथार्थ :- इन दंड़क पदों में परिभ्रमण करने से थके-मांदे इस भक्त को, तीन दंड़ की विरति से सहज मिले ऐसा मोक्षपद शीघ्र प्रदान करें ।

विवेचन :- प्रस्तुत गाथा में ग्रंथकार महर्षि ने अपने हृदय के भावों को अभिव्यक्त किया है । जैसे इस दंड़क सूत्र में 24 दंड़क पद हैं, उसी प्रकार इस अवसर्पिणी काल में आत्मा के उद्धारक ऐसे 24 तीर्थंकर पैदा हुए हैं ।

इन 24 दंड़क पदों में मेरी आत्मा ने अनंती बार जन्म-मरण किया है ।

हे चौबीस जिनेश्वर भगवंतो । मैं इस संसार के परिभ्रमण से कंटाल गया हूँ, अब मुझे इस संसार में नहीं भटकना है, अतः मुझे संसार की कोई सामग्री पसंद नहीं है, मुझे तो चाहिए सिर्फ मोक्षपद जो तीन दंड़ (मन दंड़, वचन दंड़ और काय दंड़) का त्याग करने से सुलभ है । बस, मेरी एक ही तमन्ना है, मुझे मोक्षपद चाहिए ।

सिरि जिणहंस मुणीसर, रज्जे सिरिधवलचंद सीसेण ।
गजसारेण लिहिया, एसा विन्नत्ति अप्पहिया ।।44।।

शब्दार्थ

सिरि=श्री	**गजसारेण=**गजसार मुनि द्वारा
जिणहंस=जिनहंस नाम के	**लिहिया=**लिखा गया
मुणीसर=आचार्य के	**एसा=**यह
रज्जे=राज्य में	**विन्नत्ति=**विज्ञप्ति
सिरि धवलचंद=श्री धवलचंद्र	**अप्पहिया=**आत्महितकारी ।।44।।
सीसेण=शिष्य द्वारा	

गाथार्थ :- श्री जिनहंस आचार्य भगवंत के शासन काल में आत्महित करनेवाली यह विज्ञप्ति श्री धवलचंद्र मुनि के शिष्य श्री गजसारमुनि के द्वारा लिखी गई है ।

विवेचन :- इस दंड़क प्रकरण के रचयिता श्री गजसार मुनि हैं, जो जिनहंससूरिजी आचार्य भगवंत के शासन में हुए हैं । ये गजसार मुनि श्री धवलचंद्रमुनि के शिष्य थे । इन्होंने दंड़क प्रकरण के माध्यम से प्रभु को विज्ञप्ति की है कि मैं इस संसार में बहुत भटका हूँ, अतः आप मेरा उद्धार करें । इस दंड़क प्रकरण में प्रभु को विज्ञप्ति की गई है, जो स्तुतिकरनेवाले अन्य का भी उद्धार ही करनेवाली है ।

जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर मरुधररत्न, पू. आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा. द्वारा मुख्यतया हिन्दी भाषा में आलेखित 233 पुस्तकों में से उपलब्ध एवं अवश्य पठनीय साहित्य-सूची

Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य	Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य
1.	चिंतन का अमृत-कुंभ	80/-	35.	ध्यान साधना	40/-
2.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-1)	100/-	36.	आग और पानी-भाग-1-2	115/-
3.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-2)	100/-	37.	शांत सुधारस-हिन्दी -भाग-1-2	140/-
4.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-3)	125/-	38.	शत्रुंजय यात्रा (तृतीय आवृत्ति)	40/-
5.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-4)	135/-	39.	आओ संस्कृत सीखें भाग-1	150/-
6.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-1	125/-	40.	प्रेरक-प्रवचन	80/-
7.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-2	85/-	41.	दंडक सूत्र विवेचन	90/-
8.	विविध-तपमाला	100/-	42.	जीव विचार विवेचन	100/-
9.	विवेकी बनो	90/-	43.	गणधर-संवाद	80/-
10.	बीसवी सदी के महान योगी	300/-	44.	आओ ! उपधान पौषध करें !	55/-
11.	परम-तत्व की साधना भाग-3	160/-	45.	नवपद आराधना	80/-
12.	प्रवचन-वर्षा	60/-	46.	पहला कर्मग्रंथ	100/-
13.	मोक्ष-मार्ग के कदम	120/-	47.	दूसरा-तीसरा कर्मग्रंथ	55/-
14.	आओ श्रावक बनें !	25/-	48.	संस्मरण	50/-
15.	व्यसन-मुक्ति	100/-	49.	भव आलोचना	10/-
16.	श्रावक जीवन दर्शन	250/-	50.	आध्यात्मिक पत्र	60/-
17.	शंका-समाधान (भाग-4)	60/-	51.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-1	125/-
18.	जैन-महाभारत	130/-	52.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-2	175/-
19.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (1 से 9)	300/-	53.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-3	150/-
20.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (10 से 40)	275/-	54.	इन्द्रिय पराजय शतक	50/-
21.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (41 से 57)	275/-	55.	'बेंगलोर' प्रवचन-मोती	140/-
22.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (58 से 80)	280/-	56.	तीन भाष्य (हिन्दी विवेचन)	150/-
23.	सात वासुदेव-प्रतिवासुदेव बलदेव	50/-	57.	श्री नमस्कार महामंत्र	180/-
24.	प्रतिक्रमण उपयोगी संग्रह	80/-	58.	महामंत्र की अनुप्रेक्षाएँ	150/-
25.	सुखी जीवन के Mile-Stone	100/-	59.	आठ कर्म निवारण पूजाएं	200/-
26.	समाधि मृत्यु	80/-	60.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-1	200/-
27.	The Way of Metaphysical Life	60/-	61.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-2	200/-
28.	Pearls of Preaching	60/-	62.	आओ ! पर्युषण प्रतिक्रमण करें !	150/-
29.	New Message for a New Day	600/-	63.	सज्झायों का स्वाध्याय	100/-
30.	Celibacy	70/-	64.	वर्धमान सामायिक साधना श्रेणी	30/-
31.	Panch Pratikraman Sootra	100/-	65.	वैराग्य-वाणी	140/-
32.	श्रीपाल-रास और जीवन-चरित्र	160/-	66.	सम्यग्दर्शन का सूर्योदय	160/-
33.	अमृत रस का प्याला	300/-	67.	लघु संग्रहणी	140/-
34.	श्रावक का गुण सौंदर्य	125/-			

पुस्तक प्राप्ति स्थान : दिव्य सन्देश प्रकाशन C/o. सुरेन्द्र जैन,
Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे,
डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002.
Mobile : 8484848451 (only whatsapp)

Kamal PRINTER'S
M. 9820530299